॥ श्रीः ॥

विद्याभवन संस्कृत ग्रन्थमाला

४५

श्रीसायणाचार्यविरचिता

ऋग्वेदभाष्यभूमिका

हिन्दीव्याख्योपेता

व्याख्याकार—

श्रीजगन्नाथपाठक साहित्याचार्य

पालित्रिपिटकप्रकाशनविभाग, वाराणसी
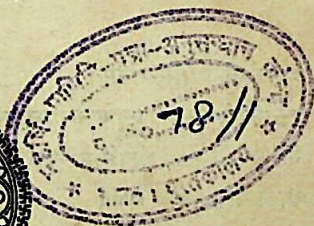
चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी-२२१००१

१९७६

आभार

प्रस्तुत पुस्तक आचार्य सायण-कृत ऋग्वेद-भाष्य की भूमिका का हिन्दी रूपान्तर है। बहुत अंश में रूपान्तर भावानुवाद हो गया है, कारण लिखते समय मैं सायण की जिस पंक्ति को एक वाक्य में ठीक प्रस्तुत नहीं कर पाया हूँ, उसके स्पष्टीकरण के लिए मैंने अपनी ओर से कई वाक्यों का समावेश कर दिया है। मेरा उद्देश्य 'भूमिका' के वक्तव्य को हिन्दी में ठीक से उपस्थित कर देना रहा है, जिससे इस विषय के जिज्ञासु विद्यार्थी यथाशीघ्र प्रवेश लाभ कर सकें। 'भूमिका' में प्रसंगतः विभिन्न वैदिक विधानों (कर्मकाण्डों) और प्रधानतः मीमांसा शास्त्र के विषयों की चर्चा है, विशेपकर मीमांसाशास्त्र के आद्याचार्य जैमिनि के सूत्रों के पूर्वपक्ष-उत्तर-पक्षों को उद्धृत करके व्याख्या की गई है। इन प्रसङ्गों में आये हुए पारिभाषिक शब्दों की व्याख्या बहुत अंश में हिन्दीरूपान्तर में ही कर दी गई है।

वेद भारतीय धर्म और तत्त्वज्ञान के एकमात्र निधिभूत ग्रन्थ हैं। भारतवर्ष सदा से उन वेदतत्त्वद्रष्टा ऋषियों का ऋणी रहा है जिन्होंने जीवन की ऐहिक उपलब्धियों से ऊपर उठकर अभ्युदय और निःश्रेयस के प्रशस्त मार्ग का निर्देश किया। प्राचीन परम्पराओं से हम वेद को अपौरुपेय मानते हैं। हमारा अभिप्राय यह रहा है कि वेद अनादि और अनन्त हैं उनका सम्बन्ध पुरुष से नहीं है जो हर प्रकार की कमियों-कमजोरियों से भरा होता है। वेद का निर्माण हम स्वीकार नहीं करते, हमारे अनुसार वेद के साथ 'निर्माण' शब्द को जोड़ना वेदों के महत्त्व को कम कर देना है, वेद निर्मित नहीं हुए हैं बल्कि परमात्मा के निःश्वसित के रूप में आविर्भूत हुए हैं। जिस प्रकार निःश्वसित के पीछे पुरुष की क्रिया-शक्ति का कोई सम्बन्ध नहीं, बल्कि वह उसका स्वाभाविक धर्म है उसी प्रकार परमात्मा का भी निःश्वसित के रूप में वेदों को आविर्भूत करना स्वाभाविक धर्म है— 'यस्य निःश्वसितं वेदाः'। इस प्रकार हम यह भी मानने के लिए तैयार नहीं कि सृष्टि के बाद वेदों का आविर्भाव हुआ, बल्कि हमारी परम्परा से यह सिद्धान्त के रूप में माना जाता है कि सृष्टि के कर्ता ने वेदों के अनुसार सृष्टि की। सृष्टिकर्ता वेदो के नियमों का पालन करते हुए क्रियाशील हुआ और उसने उत्पन्न हुए मनुष्यों को वेदों का ज्ञान कराया, जो विगत युग-युगान्तरों से चले आते हैं और रंचमात्र भी जिनमें परिवर्तन नहीं हुआ है। इसीलिए हम वेदों को 'श्रुति' कहते हैं क्योंकि वेद को सबने अपनी गुरु-परम्परा से उपलब्ध किया है, सबने सुना और पढ़ा है। हम इस गुरु-शिष्य परम्परा को 'सम्प्रदाय' कहते हैं। इस प्रसंग में जो कि प्रश्न उठता है कि काठक, कालापक आदि जो नाम वेदों के साथ जुड़े हैं उनसे सिद्ध होता है कि वेद के तत्तत् भाग कठ, कलाप आदि व्यक्तियों द्वारा प्रणीत हैं अतः वेद को अपौरुपेय नहीं कह सकते। समाधान यह दिया जाता है कि वेद के

तत्तत् भागों के साक्षात् करने के कारण उन ऋषियों का नाम उनसे जोड़ दिया गया है, न कि वे ऋषि वेद के निर्माता हैं। इस प्रकार विविध शंकाओं का समाधान करके हम वेद के अपौरुषेयत्व का सिद्धान्त स्थिर करते हैं।

वेद के अध्ययन का अधिकार त्रैवर्णिक, ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य को ही प्राप्त है, परन्तु विशेष रूप से श्रुति की रक्षा का भार ब्राह्मणों पर रहा है क्योंकि ये ही लोग विना कोई ऐहिक लाभ या सुख की अपेक्षा के वेद में सर्वात्मना लगे रहे हैं और यह बात इन्होंने अपने हृदय में टांक ली है—ब्राह्मणेन निष्कारणो धर्मः षडङ्गो वेदोऽध्येयो ज्ञेयश्च—अर्थात् ब्राह्मण को चाहिए कि वह विना किसी फल की अपेक्षा किए छह अङ्गों सहित वेद का अध्ययन और ज्ञान करे। वेद का अध्ययन केवल अक्षर ज्ञान ही नहीं वल्कि उसके अर्थज्ञान के लिए विहित है। 'स्वाध्यायोऽध्येतव्यः' यह 'नित्य विधि' है, अर्थात् स्वाध्याय (जिसकी परम्परा में जिस शाखा का अध्ययन चला आता है वह उसका स्वाध्याय हो जाता है) के अध्ययन करने से कोई लाभ नहीं, लेकिन न करने से प्रत्यवाय अवश्य होता है। इस प्रकार के निर्देशों से ही अनुमान किया जा सकता है कि भारतीय जीवन में वेदों का कितना महत्त्वपूर्ण स्थान है।

यही कारण है कि वेद हमें विलकुल अपरिवर्तित एवं परिशुद्ध रूप में उपलब्ध हैं। आज से दो हजार वर्ष पूर्व हमारे यहाँ के वैदिक ब्राह्मण जिस स्वर और क्रम से वेद का पाठ करते थे उसी स्वर और क्रम से आज का वैदिक भी पाठ करता है, उसमें रंचमात्र भी परिवर्तन की गुंजाइश नहीं मानी गई है। जैसा कि महाकवि वाण ने 'हर्षचरित' के आरम्भ में एक पौराणिक घटना का उल्लेख किया है कि एक समय ब्रह्मा जी की सभा में अनेक ऋषि वेदों का पाठ कर रहे थे, उनमें अत्रि के पुत्र दुर्वासा ने सामगान करते हुए विवाद छिड़ जाने पर क्रोध के आवेश में विस्वर पाठ कर दिया, जिस स्वर को उच्चारण करना चाहिये उसका प्रयोग न करके उसके स्थान पर भिन्न स्वर को प्रयोग कर दिया। तत्काल सरस्वती से न रहा गया, वे हँस पड़ीं, फलतः उनको दुर्वासा ने शाप दे दिया। यहाँ इस घटना के उल्लेख का तात्पर्य यह है कि हमने जैसा ऊपर निर्धारण किया है कि वेद में रंचमात्र भी परिवर्तन नहीं हुआ है उसकी पुष्टि होती है। और भी, स्वरापराध के होने से वाग्वज्र की भाँति दुरुच्चरित शब्द यजमान का अकल्याण कर डालता है, इसके उदाहरण के रूप में 'इन्द्रशत्रुर्वर्धस्व' इस मन्त्र को उद्धृत करते हैं, यहाँ 'इन्द्रस्य शत्रुः' यह तत्पुरुष समास होने पर अन्तोदात्त विवक्षित था, लेकिन अद्युदात्त का प्रयोग किया गया, इसके अनुसार बहुव्रीहि समास 'इन्द्रो घातको यस्य सः' हुआ, फलतः इन्द्र का शत्रु वृत्र संवर्धित होकर भी इन्द्र द्वारा मारा गाया। इन प्रमाणों के आधार पर वेद में स्वरमात्र तक का परिवर्तन नहीं किया गया है। वेद के अतिरिक्त शायद ही ऐसा प्राचीन साहित्य हो जिसमें स्वर और क्रम दोनों ठीक-ठीक उसी रूप में आज भी सुरक्षित हों।

हम आज जिस युग में उत्पन्न हैं वह शुद्ध वैज्ञानिक है, इसमें पूर्व-प्रचलित मान्यताओं को उस अंश में ही स्वीकार किया जाता है जिस अंश में विज्ञान की विसंगति नहीं होती। विज्ञान स्वर और क्रम के अनुसार वेद को सर्वथा अपरिवर्तित मानते हुए भी जैसा कि ऊपर वेद का अपौरुषेय होना कहा गया है, स्वीकार नहीं करता। ऐसा सम्भव नहीं कि वेद अनादि अनन्त हैं, बल्कि उसका भी कोई निर्धारित काल है जब उसे यहाँ के लोगों ने रचा था। वेद, विशेषतः ऋग्वेद आर्यों की सबसे प्राचीन साहित्यिक भाषा के रूप में स्वीकृत है। वैज्ञानिक अध्येता विकासवाद की दृष्टि से प्रत्येक वस्तु पर दृष्टिपात करता है और अन्तर्बाह्य साक्ष्यों के आधार पर वह उस वस्तु का एक वैज्ञानिक इतिहास ढूंढ निकालता है। यही बात वेदों के सम्बन्ध में भी आगे चलकर हुई।

यों भारतीय नैयायिकों ने भी मीमांसकों से लड़-झगड़ कर वेद का पौरुषेयत्व या ईश्वर-प्रणीत होना सिद्ध किया था, पर उनका कथन भी बहुत अंश में अवैज्ञानिक होने के कारण अपौरुषेयत्ववादियों की भांति ही श्रद्धा भावना से ओतः-प्रोत समझ लिया गया। जब उन्नीसवीं शताब्दी में पश्चिम के विद्वानों की दृष्टि विद्या के विविध क्षेत्रों पर पड़ी तब बहुत से विचार के नये तथ्य सामने आये। तभी से हमने वेदों का काल-निर्णय आरम्भ किया, और कुछ प्रामाणिक युक्तियों के आधार पर बहुत अंश में सफल भी हुए। चारों वेदों में ऋग्वेद ही सबसे प्राचीन और अपेक्षाकृत महत्त्वपूर्ण माना गया। भिन्न-भिन्न विद्वान् इसे ईसा के पांच हजार वर्ष पूर्व का साहित्य मानते हैं और कुछ विद्वानों के मत में यह ईसा से पचीस हजार वर्ष से कम पहले का नहीं होना चाहिये। इस प्रसंग में विद्वानों के विभिन्न मतों को उद्धृत करना अभीष्ट नहीं समझते, केवल इतना कहना पर्याप्त होगा कि वेद संसार की सर्वश्रेष्ठ तथा सर्वप्राचीन साहित्यिक निधि हैं। संसार की किसी भी भाषा में इतना प्राचीन साहित्य उपलब्ध नहीं है, यह कम महत्त्व की बात नहीं।

इस प्रकार आधुनिक पौराणिक हिन्दू धर्म के एक मात्र अवलम्बन के साथ ही धर्ममूल होने तथा भाषा-विज्ञान के अनुसार महत्त्वशाली होने के कारण वेद भारतीय एवं पाश्चात्य विद्वानों का अध्ययन और कौतूहल का विषय रहा है। भारत में उसका सम्मान धर्ममूल होने के कारण विशेष है—वेदोऽखिलो धर्ममूलम्। अतः इसे स्वतः प्रमाण माना गया है। प्रत्यक्ष और अनुमान के द्वारा जो उपाय बुद्धिगत नहीं होता है उसे वेद द्वारा ज्ञात करते हैं—

प्रत्यक्षेणानुमित्या वा यस्तूपायो न बुध्यते।
एतं विदन्ति वेदेन तस्माद् वेदस्य वेदता॥

सायण के अनुसार वेद का लक्षण इस प्रकार है—'इष्टप्राप्त्यनिष्टपरिहारयोरलौकिकमुपायं यो ग्रन्थो वेदयति स वेदः' अर्थात् इष्ट की प्राप्ति और अनिष्ट के परिहार के लिए अलौकिक उपाय को बतलाने वाला ग्रन्थ ही वेद है। यह प्रत्यक्ष सिद्ध है कि स्रक्, चन्दन,

वनिता आदि इष्ट प्राप्ति के हेतु हैं और औषध सेवन आदि अनिष्ट परिहार के हेतु हैं, तथा स्वयं अनुभव करने और पुरुषागत अनुभव का ज्ञान अनुमान प्रमाण से सम्भव हो जाता है, परन्तु एक मात्र वेद ही से ज्ञात होता है ज्योतिष्टोम इष्ट स्वर्ग की प्राप्ति का साधन है और कलञ्ज-भक्षण का वर्जन अनिष्ट के परिहार का साधन है। वेद के अतिरिक्त अगर कोई तार्किक शिरोमणि भी अनुमान प्रमाण के द्वारा इन साधनों को पता लगाने के लिए अनुमान-सहस्रों का भी प्रयोग करे तब भी वह किसी अंश में सफल नहीं होगा।

प्राचीन युग से आज तक विद्वानों के सामने वेद के मन्त्रों का यथार्थ अर्थ लगाना एक समस्या रही है। यद्यपि हमारे देश में वेद के अध्ययन और अध्यापन की परम्परा अक्षुण्ण रूप से रही है, तथापि हम वेद के निश्चित अर्थ के बारे में आज भी सन्देहरहित नहीं हैं। इसका अभिप्राय यह नहीं कि अबतक वेद का अर्थज्ञान एक भ्रान्ति के रूप में हमें उपलब्ध है तथापि हम उसके सम्बन्ध में सन्तुष्ट होते हुए भी कुछ कमी महसूस करते हैं और यह स्वाभाविक भी है, क्योंकि इतनी प्राचीन साहित्यनिधि के सम्बन्ध में हम कैसे पूर्ण रूप से निर्धारण कर सकते हैं। आज से ही नहीं ब्राह्मण ग्रन्थों से ही वेद के मन्त्रों की व्याख्या का आरम्भ हो चुका था। यह व्याख्यान बहुत संकुचित और सीमित होकर भी उपयोगी सिद्ध हुआ है, क्योंकि इन्हीं ब्राह्मण ग्रन्थों में बिखरे व्याख्यासूत्रों को पकड़ कर ही निघण्टु तथा निरुक्त की रचना कालान्तर में की गई। स्वयं वेद अपने अर्थज्ञान की अपेक्षा रखता है और अर्थज्ञान रखने वाले की प्रशंसा तथा अर्थज्ञान-शून्य व्यक्ति की निन्दा करता है। यास्क ने इस ऋक् को उद्धृत किया है—

उत त्वः पश्यन्न ददर्श वाचमुत त्वः शृण्वन्न शृणोत्येनाम्।
उतो त्वस्मै तन्वं विसस्रे जायेव पत्य उशती सुवासाः॥

(ऋ० १०।७१।४)

अर्थात् एक व्यक्ति जो वेद के अर्थज्ञान से रहित है वह वाणी को देखता हुआ भी नहीं देखता और सुनता हुआ भी नहीं सुनता। और जो वेदार्थ को जानता है उसके सामने वाणी अपने शरीर को उस प्रकार फैला देती है जिस प्रकार काम से अभिभूत और शोभन वस्त्रवाली जाया अपने पति के सामने अपने आप को बेनकाब कर देती है।

और भी अनेक वचन वेदार्थज्ञान की प्रशंसा और अज्ञान की निन्दा के सम्बन्ध में उद्धृत किए गए हैं। उनमें एक यह भी है—

स्थाणुरयं भारहारः किलाभूत् अधीत्य वेदं न विजानाति योऽर्थम्।
योऽर्थज्ञ इत् सकलं भद्रमश्नुते नाकमेति ज्ञानविधूतपाप्मा॥

अर्थात् जो व्यक्ति वेद का अध्ययन करके उसके अर्थ से अपरिचित रहता है

वह स्थाणु या ठूंठ की भांति भार वहन ही करता है और जो अर्थज्ञ है वह समस्त कल्याण को प्राप्त करता है और ज्ञान से उसके पाप धुल जाते हैं, फलतः वह स्वर्ग को प्राप्त करता है।

इस प्रकार ब्राह्मण ग्रन्थों और निघण्टु तथा निरुक्तों के बाद वेद की व्याख्या की ओर इस देश के मननशील ब्राह्मणों की प्रवृत्ति हुई। उपलब्ध निरुक्तों में सिर्फ यास्ककृत निरुक्त ही मिलता है, अन्य बारह निरुक्तकारों के नाममात्र का ही उल्लेख यास्क ने किया है उनके ग्रन्थ प्राप्त नहीं हैं। इससे पता चलता है कि वेद की व्याख्या के लिए किस प्रकार इस देश में लोग प्रवृत्त थे। आगे चलकर वेदों की व्याख्याएँ इन्हीं ब्राह्मण ग्रन्थों और निरुक्तों के व्याख्या-सूत्रों का सामने रखकर ही लिखी गई। जैसा कि ऋग्वेद के प्रसिद्ध भाष्यकार, वेंकटमाधव, जो सायण से पहले हो चुके हैं स्पष्ट लिखते हैं—

येऽज्ञाता ये च सन्दिग्धास्तेषां वृद्धेषु निर्णयः।

अर्थात् मन्त्रों के अज्ञात तथा सन्दिग्ध अर्थों का निर्णय वृद्धों से किया जाता है। ये वृद्ध कौन हो सकते हैं। इसका उत्तर स्पष्ट है।

गुप्तकाल के अनन्तर ऋग्वेद के व्याख्याकार स्कन्दस्वामी, माधवभट्ट, वेंकट माधव आदि हुए तथा तैत्तिरीय संहिता के भाष्यकार-पद्मभास्कर मिश्र, तथा सामसंहिता के भाष्य के रचयिता भरतस्वामी है। इन लोगों ने सायणाचार्य से पहले अपने भाष्य लिखे और वेद व्याख्यान की परम्परा को जीवित रखा। इस प्रकार अब तक वेद का दुर्गम मार्ग बहुत कुछ सुगम और सीधा हो गया। अब तक किसी भाष्यकार ने समस्त वेदों का व्याख्यान प्रस्तुत नहीं किया था। वह कार्य बड़ी विशालता और पूर्णता के साथ सुप्रसिद्ध भाष्यकार सायणाचार्य ने सम्पन्न करके इस पृथ्वीतल में एक अपूर्व यशःशरीर कायम कर दिया। न केवल भारतीय वैदिक विद्वान्, प्रत्युत पाश्चात्य जगत् के वैदिक मर्मज्ञ भी उनके चिर-ऋणी हैं।

सायणाचार्य के जीवन के सम्बन्ध में पर्याप्त प्रामाणिक सामग्री ऐतिहासिकों को प्राप्त है। एक तो स्वयं उन्होंने अपने ग्रन्थों के आरम्भ में अपना वंश-परिचय दिया है, दूसरे विजयनगर के राजाओं के अनेक शिलालेखों तथा शासनपत्रों में बहुत बातें ज्ञात हो जाती हैं। विजयनगर-साम्राज्य की स्थापना विक्रम संवत् १३९२ (१३३६ ई०) में दक्षिण भारत में हुई। इसके पीछे हिन्दू धर्म और संस्कृति की रक्षा का उद्देश्य था। विजयनगर के सम्राटों की प्रेरणा से ही आचार्य सायण ने वेदभाष्य लिखे। इस अंश में विजयनगर के संस्थापक सम्राट् हरिहर तथा बुक्कराय के हम ऋणी हैं।

सायण के पिता का नाम मायण तथा जननी का नाम श्रीमती था। उनका गोत्र भारद्वाज था। कृष्णयजुर्वेद की तैत्तिरीय शाखा और बौधायन सूत्र सायण के स्वाध्याय थे। सायण के दो भाई और थे, एक अग्रज और एक अनुज। अग्रज का नाम माधवाचार्य था जो भारतीय धर्म और दर्शन-साहित्य के क्षेत्र में सुविख्यात हैं। माधवाचार्य का व्यक्तित्व

सायण से अपेक्षाकृत अधिक था, यह सिर्फ अग्रज होने के नाते ही नहीं, विविध धार्मिक और दार्शनिक महत्त्वपूर्ण ग्रन्थों के प्रणयन से था। माधवाचार्य ही अपने संन्यस्त जीवन में विद्यारण्य स्वामी के नाम से प्रसिद्ध हुए और वेदान्त के मान्य ग्रन्थों की रचना की। साथ ही विजयनगर साम्राज्य की स्थापना जो महाराजाधिराज हरिहर ने की थी उस समय माधवाचार्य ही उनके प्रधान मन्त्री थे। छोटे भाई भोगनाथ, संगमराज के नर्मसचिव और उच्चकोटि के कवि थे। चित्रगुण्टशासनपत्र की प्रशस्ति उन्होंने ही लिखी थीं। सायणकृत अलङ्कार-सुधानिधि ग्रन्थ में उनके अनेक काव्यों के नामांकन के साथ श्लोक भी उद्धृत हैं, जिनसे उनकी प्रगल्भ कवित्वशक्ति का परिचय मिलता है।

सायण का नाम कर्णाटकशैली (सायणा) पर अवश्य है, तथापि उन्हें 'अस्माकमान्ध्राणां' के उल्लेख से और सायण के भागिनेय अहोवल पण्डित के आन्ध्र की भाषा तेलगु का व्याकरण संस्कृत में लिखने से उनका आन्ध्रदेशीय होना प्रमाणित होता है।

सायण और उनके भ्रातृद्वय के ग्रन्थों के परिशीलन से उनके तीन गुरुओं की सूचना मिलती है—विद्यातीर्थ, भारतीतीर्थ और श्रीकण्ठ। विद्यातीर्थ उस समय के महान् तपस्वी, संन्यासी थे, वे रुद्रप्रश्न-भाष्य के रचयिता और परमात्मतीर्थ के शिष्य थे। समस्त वेदभाष्यों का उपक्रम करते हुए आचार्य सायण ने स्वामी विद्यातीर्थ को भगवान् महेश्वर के अवतार के रूप में स्मरण किया है—

यस्य निःश्वसितं वेदा यो वेदेभ्योऽखिलं जगत्।
निर्ममे तमहं वन्दे विद्यातीर्थमहेश्वरम्॥

माधवाचार्य ने विद्यातीर्थ की ही मूर्ति शृङ्गेरी पीठ में विद्याशंकर के नाम से बनवा कर प्रतिष्ठित की। माधवाचार्य ने भी अपने मुख्य गुरु के रूप में महेश्वरावतार स्वामी विद्यातीर्थ को स्मरण किया है। भारतीतीर्थ भी शृङ्गेरी पीठ में अध्यापन करते हुए निवास करते थे। पराशर-स्मृति की व्याख्या और जैमिनीय-न्यायमाला विस्तर में माधवाचार्य ने बहुत वार बड़े आदर के साथ इनका उल्लेख किया है। काञ्ची के शासनपत्र में सायण ने श्रीकण्ठ को अपने गुरु के रूप में निर्देश किया है। माधवाचार्य और भोगनाथ ने भी अपने ग्रन्थो में श्रीकण्ठनाथ को बहुत स्थलों पर गुरु के रूप में उल्लेख किया है।

सायण ने अपने जीवन काल में विजयनगर के चार अधिपतियों के साम्राज्य में महामन्त्री के पद को अलंकृत किया था। उनमें प्रथम बुक्क थे। बुक्क विजयनगर के प्रथम अधिपति महाराजाधिराज हरिहर के भाई थे। बुक्क ने ही माधवाचार्य को वेदभाष्य लिखने के लिए आदेश दिया था और माधवाचार्य ने सायण को इस महान् कार्य के लिए प्रवृत्त किया था। बुक्क के बाद सायण ने उनके अनुज कम्पराज (कम्पण) के महाप्रधान के पद को अलंकृत किया था इसका भी उनके ग्रन्थों में बहुशः उल्लेख है। कम्पण के गत होने पर सायण उनके पुत्र सङ्गमराज के प्रधानामात्य बने। यह सङ्गम (द्वितीय) बाल्यकाल से

ही आचार्य सायण का शिष्य हो गया और अनेक विद्याओं तथा शासन के कार्यों में निपुण हुआ। अब तक आचार्य सायण वृद्ध हो चुके थे, ऐसे समय में भी उन्होंने हरिहर (द्वितीय) साम्राज्य का भार वहन किया। इस प्रकार सायण का जीवन विद्या और राजनीति के मार्ग में समान रूप से प्रवाहित था।

निर्दिष्ट राजाओं में बुक्क (प्रथम) ने १३४४ ई० से लेकर १३७९ ई० तक राज्य किया। उनके पुत्र हरिहर ने १३७९ ई० से लेकर १३९९ ई० पर्यन्त राज्यसिंहासन को अलंकृत किया। ऐतिहासिकों के अनुसार १३३५ ई० में माधवाचार्य के आदेश को मानकर हरिहर (प्रथम) ने विजयनगर-साम्राज्य की स्थापना की थी। इसीलिए बुक्क और हरिहर के प्रधानामात्य श्री सायणाचार्य का आविर्भावकाल चौदहवीं शताब्दी के पूर्वार्ध में था इसमें कोई सन्देह नहीं। यह जनश्रुति भी है कि सायणाचार्य १४४४ वि० सं० (१३८७ ई०) में दिवंगत हुए।

अलंकारसुधानिधि के एक श्लोक से सायणाचार्य के तीन पुत्रों की सूचना मिलती है, साथ ही उनके कौटुम्बिक जीवन का भी सुन्दर चित्रण मिलता है। श्लोक इस प्रकार है—

तत् संव्यञ्जय कम्पण ! व्यसनिनः सङ्गीतशास्त्रे तव
प्रौढिं मायण ! गद्यपद्यरचनापाण्डित्यमुन्मुद्रय।
शिक्षां दर्शय शिङ्गण ! क्रमजटाचर्चासु वेदेष्विति
स्वान् पुत्रानुपलालयन् गृहगतः सम्मोदते सायणः॥

अर्थात् राजनीतिक कार्यों से निवृत्त होकर जब सायणाचार्य अपने घर आते थे तब अपने पुत्रों से इस प्रकार प्रेम से कहते थे—हे कम्पण ! तुम संगीतशास्त्र के अपने व्यसन को प्रकट करो, हे मायण ! गद्य और पद्य की रचना में जो तुमने पाण्डित्य अर्जित किया है उसे बताओ और हे शिङ्गण ! अब तक जो तुमने वेदों में क्रम और जटा का अभ्यास किया है उसे दिखलाओ।

वेद-भाष्यों के अतिरिक्त सायण ने और भी अनेक ग्रन्थ लिखे। जैसे—सुभाषितसुधानिधि, प्रायश्चित्तसुधानिधि, अलंकारसुधानिधि, धातुवृत्ति, पुरुषार्थसुधानिधि, आयुर्वेदसुधानिधि और यज्ञतन्त्रसुधानिधि।

सायण के अनेक ग्रन्थों की पुष्पिकाओं में ग्रन्थ के नाम के पूर्व 'माधवीय' शब्द सम्बद्ध है। इससे कुछ लोग उन ग्रन्थों को माधवाचार्यरचित और कुछ लोग माधव और सायण दोनों द्वारा रचित मानते हैं। परन्तु बहुत लोगों ने अनेक पुष्ट प्रमाणों के आधार पर सायणरचित ही माना है। सायण ने अपने गुरुकल्प अग्रज के प्रति अत्यधिक श्रद्धा के कारण अपने ग्रन्थो को माधवीय लिखा है। बुक्क ने माधवाचार्य को ही वेद भाष्य लिखने के लिए आदेश दिया था। यह कार्य सायण के द्वारा सम्पन्न हुआ, फिर भी सायण ने

माधवीय कहकर अपने अग्रज के व्यक्तित्व को किसी प्रकार अपने महान् कार्य से अभिभूत होने न दिया। यह सायण की भ्रातृभक्ति और अपार सहृदयता का दिव्य प्रमाण है।

सायण ने अपने प्रत्येक वेदभाष्य के आरम्भ में एक विद्वत्तापूर्ण भूमिका लिखी हैं। उन भूमिकाओं में ऋग्वेद-भाष्य की भूमिका सबसे अधिक उपयोगी मानी जाती है। यत्र-तत्र परीक्षाओं में भी उसे रखा गया है। वेदलक्षण, वेदमन्त्रों का अर्थबोधकत्व, मन्त्र-भाग और ब्राह्मणभाग का प्रामाण्य, अपौरुषेयत्वसिद्धि, मन्त्र और ब्राह्मण के लक्षण, वेद के अनुबन्धचतुष्टय, वेद के छः अङ्गों—शिक्षा, कल्प, व्याकरण, निरुक्त, छन्द, ज्योतिष आदि का विवेचन, वेद विद्या के ग्रहण में अधिकारिविशेष आदि का निरूपण इसके मुख्य विषय हैं।

जैसा कि हम आरम्भ में कह चुके हैं, प्रस्तुत पुस्तक इसी ऋग्वेद-भाष्य-भूमिका का हिन्दी रूपान्तर है, जो विशेष रूप से विद्यार्थियों की उपयोगिता को ध्यान में रखकर लिखी गई है। इसके प्रस्तुत करने में मीमांसा और वेदान्त के सुप्रसिद्ध विद्वान् और काशी विश्व-विद्यालय के संस्कृत महाविद्यालय के अध्यापक पं० श्री सुब्रह्मण्य शास्त्री जी ने स्थान-स्थान पर मेरी भ्रान्तियों का निकारण करके मूल्यवान् निर्देश दिया है उसके लिए मैं उनका ऋणी हूं। अनेक ऐतिहासिक परिशीलनों और विविध उपयोगी तत्त्वों की जानकारी प्राप्त करने के एकमात्र ग्रन्थ पूज्यपाद गुरुवर पं० श्री बलदेव उपाध्याय जी द्वारा लिखित 'आचार्य सायण और माधव' और 'वैदिक-साहित्य' विशेष सहायक रहे हैं, तथा इस संस्करण में मूल ग्रन्थ पूज्य उपाध्याय जी द्वारा सम्पादित 'चतुर्वेदभाष्यभूमिका' से अविकल लिया गया है। इसके लिए मैं उनके प्रति किन शब्दों में कृतज्ञता प्रकट करूं? मैं अपने कल्याण-मित्र श्रीजगन्नाथ-प्रसाद शर्मा एम. ए., श्री शिवदत्त शर्मा चतुर्वेदी और श्री कैलासपति त्रिपाठी का विशेष उपकार मानता हूं, जिन्होंने मुझे इस कार्य के लिए प्रोत्साहन दिया। अलमतिविस्तरेण।

'सहस्रारामं' सहसराम
अन्नकूट २०१६

जगन्नाथ पाठक

विषय-सूची

उद्धरण-सूची

हिन्दी-

ऋग्वेदभाष्यभूमिका

पृष्ठ १:

वागीशाद्याः सुमनसः सर्वार्थानामुपक्रमे।
यं नत्वा कृतकृत्याः स्युस्तं नमामि गजाननम्॥ १॥

वागीश (ब्रह्मा) आदि देवता सब प्रकार के कार्यों के आरम्भ में जिसको नमन करके कृतकृत्य होते हैं, अर्थात् उनके कार्य जिसको प्रणाम कर लेने पर पूरे हो जाते हैं ऐसे हाथी के मुख वाले गणेश जी को मैं प्रणाम करता हूँ।

यस्य निःश्वसितं वेदा यो वेदेभ्योऽखिलं जगत्।
निर्ममे तमहं वन्दे विद्यातीर्थमहेश्वरम्(१)॥ २॥

विद्यातीर्थ के रूप में उन महेश्वर की मैं वन्दना करता हूँ, जिनके निःश्वास के रूप में वेद हैं और जिन्होंने समस्त जगन्मण्डल को वेदों से रचा है।

यत्कटाक्षेण तद्रूपं दधद् बुक्कमहीपतिः।
आदिशद् माधवाचार्यं वेदार्थस्य प्रकाशने॥ ३॥

जिन विद्यातीर्थ महेश्वर की कृपाकटाक्ष से उनके स्वरूप को धारण करते हुए राजा बुक्कराय ने माधवाचार्य को वेद के अर्थ को प्रकाशित करने (वेद की व्याख्या करने) के लिए आदेश दिया(२)।

---

१. स्वामी विद्यातीर्थ आचार्य सायण के गुरु थे और श्रृङ्गेरी के पदाधिष्ठित आचार्य थे। सायण और माधव के प्रत्येक ग्रन्थ में विद्यातीर्थ का उल्लेख जिन शब्दों में किया गया है उससे जान पड़ता है कि वे इन्हें साक्षात् परमात्मा का रूप मानते थे। माधव के 'जीवमुक्तिविवेक' के आरम्भ में तथा सायण के वेदभाष्यों के आरम्भ में यह सुप्रसिद्ध श्लोक मिलता है, जिसमें विद्यातीर्थ परमेश्वर के साक्षात् स्वरूप माने गए हैं। विस्तार के लिए देखें—पं० श्री बलदेव उपाध्याय लिखित 'आचार्य सायण और माधव' ग्रन्थ पृ० ७१।

२. विजयनगर के अधिपति महाराज बुक्कराय ने अपने गुरु माधवाचार्य को वेद की व्याख्या करने के लिये आदेश दिया, लेकिन माधवाचार्य समर्थ होते हुए भी कार्यव्यग्रता

ये पूर्वोत्तरमीमांसे ते व्याख्यायातिसङ्ग्रहात् ।
कृपालुर्माधवाचा(१)र्यो वेदार्थं वक्तुमुद्यतः ॥ ४ ॥

जो पूर्वमीमांसा (वेद का कर्मकाण्डविषयक विचार) और उत्तरमीमांसा (वेद का ज्ञानकाण्ड-विषयक विचार) हैं, उनकी बहुत विस्तार से व्याख्या करने के पश्चात् वेद के जिज्ञासुओं पर अनुग्रह करके माधवाचार्य वेद के अर्थ के प्रकाशन में उद्यत हुए।

आध्वर्यवस्य यज्ञेषु प्राधान्याद् व्याकृतः पुरा ।
यजुर्वेदोऽथ हौत्रार्थमृग्वेदो व्याकरिष्यते ॥ ५ ॥

यज्ञ के कार्यों में अध्वर्यु ऋत्विक्–सम्बन्धी कर्म के प्रधान होने के कारण पहले यजुर्वेद का व्याख्यान किया, अब होता नामक ऋत्विक्–सम्बन्धी कर्म के लिए ऋग्वेद का व्याख्यान करेंगे।

एतस्मिन् प्रथमोऽध्यायः श्रोतव्यः सम्प्रदायतः ।
व्युत्पन्नस्तावता सर्वं बोद्धुं शक्नोति बुद्धिमान् ॥ ६ ॥

इस ऋग्वेद में प्रथम अध्याय को सम्प्रदाय के अनुसार सुनना चाहिए, इतने ही से व्युत्पन्न हुआ बुद्धिमान् व्यक्ति अपने आप सब (पूरे ऋग्वेद) को समझ सकता है।

पूर्व पक्ष

कुछ लोग कहते हैं कि जहाँ कहीं भी वेदों की चर्चा है प्रायः वहाँ ऋग्वेद का ही सर्वप्रथम उल्लेख किया गया है और समस्त वेदों में ऋग्वेद को ही अभ्यर्हित अर्थात् सर्वाधिक सम्मानित अथवा श्रेष्ठ माना गया है, इस प्रकार ऋग्वेद के प्रथम आम्नात एवं अभ्यर्हित होने के कारण उसीका व्याख्यान पहले होना चाहिए। जैसा कि ऋग्वेद का सबसे पहले होना पुरुष सूक्त में स्पष्ट रूप से मिलता है—

तस्माद् यज्ञात् सर्वहुत ऋचः सामानि जज्ञिरे ।
छन्दांसि जज्ञिरे तस्माद् यजुस्तस्मादजायत ॥ (ऋ० १०।९०।९

अर्थात् यजन (पूजन) करने योग्य, एवं समस्त लोगों द्वारा हूयमान बुलाए ग

अथवा अन्य किसी कारणवश अपने शिष्य और आश्रयदाता के इस आदेश को मानने के लिए तैयार नहीं हुए। जैसा कि तैत्तरीय भाष्य के आरम्भ में उल्लेख है—माधवाचार्य ने राजा से कहा—'यह मेरा छोटा भाई सायणाचार्य वेदों की सब बातों को जानता है अतः इसे ही व्याख्या कार्य के लिए नियुक्त कीजिए।' तब बुक्कराय ने सायणाचार्य को इस कार्य के लिए आज्ञा दी।'

१. यहाँ 'माधवाचार्य' के इस उल्लेख को सायणाचार्य के अर्थ में परिवर्तित कर समझना चाहिये। क्यों कि अपने अग्रज एवं परम विद्वान् पर अतिशय श्रद्धा होने के कारण और उन्हीं से प्रेरित होने के कारण सायणाचार्य ने अपने ग्रन्थों के अनेक स्थलों में रचयिता के रूप में माधवाचार्य का उल्लेख किया है।

उस परमेश्वर (जिसका वर्णन सहस्रशीर्षा पुरुष आदि द्वारा किया जाता है) से ही ऋक्, साम, छन्द और यजु उत्पन्न हुए। यद्यपि जैसा कि मन्त्रों में देखा जाता है इन्द्र आदि देवताओं का भी यज्ञ में आह्वान होता है, तथापि वहाँ इन्द्रादि रूप से अवस्थित परमेश्वर (सहस्रशीर्षा पुरुष) का उन मन्त्रों द्वारा आह्वान किया जाता है। इस प्रकार समझ लेने से मन्त्रों में किसी प्रकार के परस्पर--विरोध की सम्भावना नहीं रह जाती।

पृष्ठ २ : जैसा कि मन्त्र है—

'इन्द्रं मित्रं वरुणमग्निमाहुरथो दिव्यः स सुपर्णो गरुत्मान् ॥
एकं सद् विप्रा बहुधा वदन्त्यग्निं यमं मातरिश्वानमाहुः ॥'
(ऋ० १।१६४।४६)

अर्थात् वह (परमेश्वर) एक है तथापि उसे विप्रों ने इन्द्र, मित्र (सूर्य), वरुण, अग्नि, दिव्य सुपर्ण, गरुत्मान्, यम, मातरिश्वा (वायु) इस प्रकार बहुत नामों से कहा है।

और वाजसनेयी (वाजसनेय शाखा के अध्येता) लोग भी ऐसा ही कहते हैं—

'तद् यद् इदमाहुरमुं यजामुं यजेत्येकैकं देवम्।
एतस्यैव सा विसृष्टिरेष उ ह्येव सर्वे देवाः ॥' (बृ० १।४।६)

(जो कि एक-एक देवता के प्रति 'इसे यजन करो' 'इसे यजन करो' ऐसा कहा है, वह इस (परमेश्वर) की ही विसृष्टि है अर्थात् निर्माण है, उसके रूप में सब देवता हैं।)

इन उदाहरणों से सिद्ध होता है कि सर्वत्र भिन्न-भिन्न रूप में अवस्थित एक ही देवता (परमेश्वर) का आह्वान किया जाता है।

ऋग्वेद का अभ्यर्हित (श्रेष्ठ) होना न केवल ऋचाओं में इस प्रकार पाठ-प्राथम्य को देख कर ही सिद्ध होता है बल्कि यज्ञाङ्गों को दृढ़ करने के कारण भी उसका अभ्यर्हितत्व सिद्ध होता है। जैसा कि तैत्तिरीय लोग आम्नात करते हैं—

'यद् वै यज्ञस्य साम्ना यजुषा क्रियते शिथिलं तद्,
यद् ऋचा तद् दृढम्।' (तै० सं० ६।५।१०।३)

अर्थात् यज्ञ-सम्बन्धी जो कुछ कार्य साम या यजु से सम्पन्न किया जाता है वह शिथिल होता है और जो ऋक् द्वारा किया जाता है वह दृढ़ होता है।

दूसरे यह कि समस्त वेदों के ब्राह्मण-भाग अपने वक्तव्य के सम्पन्न में विश्वास को दृढ़ करने के लिये 'तदेतद् ऋचा अभ्युक्तम्' (अर्थात् इस प्रकार ऋक् ने भी कहा है) ऐसा कहकर ऋक् को उदाहरण के रूप में प्रस्तुत करते हैं। इसी प्रकार यजुर्वेदगत मन्त्र-काण्डों में उन-उन स्कन्धों में अध्वर्यु द्वारा बहुत सी ऋचाओं का उल्लेख (आम्नात) मिलता है। समस्त सामों के बारे में तो यह प्रसिद्ध ही है कि वे ऋगाश्रित होते हैं। आथर्वणिक लोग भी अपनी संहिता में बहुशः ऋचाओं का ही पाठ करते हैं। इस प्रकार अन्य समस्त वेदों द्वारा ऋचाओं के आदृत होने के कारण उनका ही अभ्यर्हित होना सिद्ध होता है।

छान्दोग लोग (छान्दोग्योपनिषद् के अध्येता) भी सनत्कुमार के प्रति नारद के वाक्य को इस प्रकार आम्नात करते हैं—

'ऋग्वेदं भगवोऽध्येमि यजुर्वेदं सामवेदमाथर्वणं चतुर्थम् ।' (छा० ७।१।२)

मुण्डकोपनिषद् में भी इस प्रकार कहा है—

'ऋग्वेदो यजुर्वेदः सामवेदोऽथर्ववेदः ।' (मु० १।१।५)

तापनीयोपनिषद् में मन्त्रराज के पादों में क्रम से अध्ययन का इस प्रकार उल्लेख है—

'ऋग्यजुःसामाथर्वाणश्चत्वारो वेदाः साङ्गाः सशाखाश्चत्वारः पादा भवन्ति ।'
(नृ० ता० ला० १।२)

इसी प्रकार सर्वत्र उदाहरणीय है । अतः ऋग्वेद के अभ्यर्हित होने के कारण उसका ही व्याख्यान आरम्भ में उचित है ।

उत्तर पक्ष

पृष्ठ ३ : माना कि समस्त वेद का अध्ययन, पारायण आदि में ऋग्वेद को ही प्रथम कहा है तथापि अर्थ-ज्ञान यज्ञ के अनुष्ठान को दृष्टि में रख कर ही अपेक्षित होता है और यज्ञ के अनुष्ठान में यजुर्वेद की प्रधानता है अतः यजुर्वेद का व्याख्यान आरम्भ में जो किया गया वह उचित है ।

यजुर्वेद की प्रधानता किसी ऋक् के द्वारा ही सुनिए—

'ऋचां त्वः पोषमास्ते पुपुष्वान् गायत्रं त्वो गायति शक्वरीषु ।
ब्रह्मा त्वो वदति जातविद्यां यज्ञस्य मात्रां विमिमीत उ त्वः ॥
(ऋ० १०।१७१।११)

निरुक्तकार यास्क ने इस ऋक् का तात्पर्य संक्षेप में इस प्रकार स्पष्ट किया है (नि० १।८)—'ऋत्विक् के कर्मों का विनियोग कहते हैं' यह कह कर उन्होंने ही इस ऋक् के प्रथम पाद का विवरण किया—'ऋचामेकः पोषमास्ते पुपुष्वान् होतर्गर्चनी' अर्थात ऊपर की ऋक् में प्रयुक्त त्वशब्दका अर्थ 'एक' है जो होता का विशेषण है । तात्पर्य यह हुआ कि होता नाम का एक ऋत्विक् यज्ञ के अवसर में स्वकीय वेदगत ऋचाओं की 'पुष्टि' करता है। 'भिन्न-भिन्न स्थलों में आम्नात ऋचाओं का एक संघात बनाकर 'यह इतना शस्त्र है' ऐसा निश्चय करना ही 'पुष्टि' होती है । व्युत्पत्ति के अनुसार 'ऋक्' उसे कहते हैं जिसके द्वार देवविशेष, क्रियाविशेष अथवा साधनविशेष की प्रशंसा की जाती है, अतः ऋक् ही 'अर्चनी' है ।

द्वितीय पाद का विवरण करते हैं—'गायत्रमेको गायति शक्वरीषूद्गाता । गाय: गायतेः स्तुतिकर्मणः शक्वर्य ऋचः, शक्नोतेस्तद्, यदाभिर्वृत्रमशकद् हन्तुं तच्छ क्वरीणां शक्वरीत्वमिति विज्ञायते' (कौ० २३।२) । स्तुतिकर्मक 'गायति' से गाय: निष्पन्न हुआ है; शक्वरी अर्थात् ऋचायें, शक्नोति से निष्पन्न; तात्पर्य यह कि जि ऋचाओं के द्वारा इन्द्र वृत्र नामक असुर को मार सके । इसी कारण उन ऋचाओं क 'शक्वरी' कहा है । वाक्यार्थ यह हुआ कि उद्गाता नाम का एक ऋत्विक् गायत्र नाम स्तोत्र को शक्वरी नामक ऋचाओं में गान करता है । धातुओं के अनेक अर्थ होते अतः स्तुत्यर्थ 'गायति' से प्रस्तुत में 'गायत्र' शब्द को निष्पन्न समझना चाहिये । 'शक्वर

शब्द 'शक्नोति' धातु से निष्पन्न है, जैसा कि किसी ब्राह्मण में इस प्रकार निर्देश है—'वृत्रं शत्रुं हन्तुं शक्नोति आभिर्ऋग्भिः'।

पृष्ठ ४ : तृतीय पाद का विवरण—'ब्रह्मा को जाते जाते विद्यां वदति, ब्रह्मा सर्ववित्।' इसका अर्थ यह हुआ कि ब्रह्मा नाम का एक ऋत्विक् यज्ञ के अवसर में जब-जब प्रणयन आदि कर्मों का प्रसङ्ग उपस्थित होगा तब-तब अनुज्ञा देता है, अर्थात् जब उसे सम्बोधित करके यह कहा जाता है कि 'ब्रह्मन् अपः प्रणेष्यामि' तब वह 'ॐ प्रणय' कहकर अनुज्ञा देता है। ब्रह्मा नाम का यह ऋत्विक् 'सर्वविद्' होता है, अर्थात् इसे वेदत्रयोक्त समस्त कर्मों का पूरा पता रहता है। इसलिए योग्यता के अनुसार उन-उन कर्मों की अनुज्ञा देने एवं प्रमाद होने पर समाधान करने में वह समर्थ माना जाता है। जैसा कि छान्दोग लोग उसकी सामर्थ्य के सम्बन्ध में कहते हैं—

'एष एव यज्ञस्तस्य मनश्च वाक् च वर्तनी। तयोरन्यतरां मनसा संस्करोति ब्रह्मा वाचा होताध्वर्युरुद्गाता चान्यतराम्'। (छा० ४।१६।१–२)

अर्थात् यज्ञ में किसी प्रकार का प्रमाद न हो जाय, इसलिए मन के द्वारा यज्ञ का सम्यक् अनुसन्धान होना चाहिये और वाणी के द्वारा तीनों वेदों के मन्त्रों का पाठ करना चाहिये, क्योंकि मन और वाणी ये दोनों यज्ञ के मार्ग हैं। होता, उद्गाता और अध्वर्यु ये तीनों मिलकर वाग्रूप यज्ञमार्ग का संस्कार करते हैं और एक ब्रह्मा मनोरूप यज्ञमार्ग का संस्कार करता है। इस प्रकार ब्रह्मा की सामर्थ्य सूचित है।

चतुर्थ पाद का विवरण—'यज्ञस्य मात्रां विमिमीत एकाऽध्वर्युः। अध्वर्युरध्वरयुरध्वरं युनक्ति अध्वरस्य नेता'। इसका अर्थ यह है कि अध्वर्यु नाम का एक ऋत्विक् यज्ञ की मात्रा (स्वरूप) को विशेष रूप से निष्पन्न करता है। 'मात्रा' यहाँ 'स्वरूप' के अर्थ में प्रयुक्त है। 'अध्वर्यु' की स्वरूप निष्पादकता इस शब्द के निर्वचन से अवगत होती है। छान्दस प्रक्रिया के अनुसार लुप्त अकार को पुनः प्रक्षिप्त करके 'अध्वरयु' यह नाम बनाना चाहिये। तब इसका अर्थ होगा, जो अध्वर अर्थात् यज्ञ को निष्पन्न करता है (युनक्ति), अर्थात् यज्ञ का नेता।

इसी बात को मन में रखकर यास्क ने यजुर्वेद के यागनिष्पादकत्व को द्योतन करनेवाला निर्वचन किया है—

'मन्त्रा मननात्, छन्दांसि छादनात्, स्तोमः स्तवनात्, यजुर्यजतेः'।
(नि० ७।१२)

इस प्रकार अध्वर्युसम्बन्धी यजुर्वेद में यज्ञ का शरीर निष्पन्न हो जाता है, उसी को लेकर स्तोत्र और शस्त्र रूप इतर दो अवयव सामवेद और ऋग्वेद के द्वारा सम्पन्न किये जाते हैं। अतः उपजीव्य होने के कारण यजुर्वेद का ही व्याख्यान सबसे पहले करना ठीक है, तत्पश्चात् साम और ऋक् इन दोनों में सामों के ऋगाश्रित होने के कारण पहले प्रस्तुत में ऋग्वेद की व्याख्या करते हैं।

पूर्वपक्ष—वेद नहीं है।

जब वेद का अस्तित्व ही सिद्ध नहीं है, ऐसी स्थिति में वेद के अवान्तर विशेष ऋग्वेद का प्रश्न ही नहीं उठता। अतः प्रश्न यह है कि, वेद है क्या ? 'वेद' का न कोई लक्षण है अथवा तत्साधक न कोई प्रमाण है। विना लक्षण और प्रमाण के किसी वस्तु की सिद्धि नहीं होती, जैसा : कि न्यायशास्त्र के विद्वान् लोग भी कहते हैं—**'लक्षणप्रमाणाभ्यां हि वस्तुसिद्धिः'**।

पृष्ठ ५ : स्यात्, यह लक्षण बनाया जाय कि 'वेद' प्रत्यक्ष, अनुमान और आगम इन प्रमाण विशेषों में अन्तिम अर्थात् 'आगमप्रमाण' है तब मनु आदि के द्वारा प्रणीत स्मृतियों में इस लक्षण की अतिव्याप्ति हो जाती है, क्योंकि स्मृतियाँ भी आगमप्रमाण हैं, क्योंकि जैसा आगम का लक्षण है—**'समयबलेन सम्यक् परोक्षानुभवसाधनम्'** अर्थात् 'संकेत' के सहारे जो सम्यक् प्रकार से परोक्ष वस्तु के अनुमान का साधन हो उसे आगम या शब्दप्रमाण कहते हैं। 'आगम' का यह लक्षण उन स्मृतियों में भी संघटित हो जाता है।

अगर उपर्युक्त लक्षण में अतिव्याप्ति दोष के निवारणार्थ यह कहा जाय कि पौरुषेय न होकर जो अन्तिम प्रमाण हो वह वेद है, तब भी परमेश्वर द्वारा वेद के निर्मित होने के कारण वेद भी पौरुषेय होता है। अगर यह कहें कि इस प्रसङ्ग में अपौरुषेयत्व शरीरधारि-जीवनिर्मितत्वाभावरूप विवक्षित है, अर्थात् वेद का निर्माता परमेश्वर कोई शरीरधारी जीव नहीं है, अतः उसके द्वारा निर्मित होने पर भी वेद की अपौरुषेयता सुरक्षित रहती है, तब भी जैसा कि **'सहस्रशीर्षा पुरुषः'** इत्यादि श्रुतियों द्वारा परमेश्वर को भी शरीरी कहा है, अतः शरीरधारी पुरुष परमेश्वर के द्वारा वेद के निर्मित होने के कारण उसकी अपौरुषेयता सिद्ध नहीं। फिर जब ऐसा कहेंगे कि कर्मफल के रूप में शरीरधारण करनेवाले जीव द्वारा जो निर्मित न हो, वह यहाँ अपौरुषेयत्व से विवक्षित है, तब भी अग्नि, वायु, आदित्य के द्वारा वेदोंका उत्पादित होना जो कहा है, इससे उपर्युक्त निवेश भी कट जाता है। ऐतरेय ब्राह्मण (५।३२) में कहा है—**'ऋग्वेद एवाग्नेरजायत यजुर्वेदो वायोः सामवेद आदित्यात्'** अर्थात् ऋग्वेद अग्नि से, यजुर्वेद वायु से और सामवेद आदित्य से उत्पन्न हुआ। ईश्वर अग्नि आदि का प्रेरक है अतः वह वेदों का निर्माता सिद्ध होता है।

अगर दूसरा यह लक्षण करते हैं कि **'मन्त्रब्राह्मणात्मकः शब्दराशिर्वेदः'** तब भी यह आज तक निर्णय भी नहीं हो सका कि मन्त्र और ब्राह्मण के कौन से प्रकार हैं। ऐसी स्थिति में यह स्पष्ट है कि वेद का कोई लक्षण नहीं है।

दूसरे हम यह भी मानने के लिये तैयार नहीं हैं कि वेद नाम की कोई वस्तु भी है, क्योंकि उसके अस्तित्व में कोई प्रमाण नहीं। यदि **'ऋग्वेदं भगवोध्येमि यजुर्वेदं सामवेदमाथर्वणं चतुर्थम्'** इत्यादि वाक्य को वेद का सद्भाव सिद्ध करने के लिये प्रमाण-स्वरूप उद्धृत करते हैं तब आत्माश्रय दोष लगता है। क्योंकि वेद के सद्भाव को प्रमाणित करने के लिये वेद की पंक्ति उद्धृत नहीं कर सकते। कितना भी चालाक आदमी होगा वह हजार प्रयत्न करने पर भी अपने कंधे पर नहीं चढ़ सकता। फिर यदि याज्ञवल्क्य स्मृति के इस वाक्य को—

'वेद एव द्विजातीनां निःश्रेयसकरः परः'—प्रमाण स्वरूप प्रस्तुत करते हैं तब भी वेद के स्मृतियों का मूल होने से इस स्मृतिवाक्य का भी निराकरण हो जाता है।

यदि कहिये कि वेद का सद्भाव प्रत्यक्षादि प्रमाण से सिद्ध होता है, ऐसी स्थिति में हम कहेंगे कि ऐसी शंका भी करना उचित नहीं, क्योंकि वेद के सम्बन्ध में लोकप्रसिद्धि सार्वजनीन होने पर भी उसी प्रकार भ्रान्त है जिस प्रकार 'आकाश नीला है' यह लोक-प्रसिद्धि भ्रान्त है। अतः प्रत्यक्षादि प्रमाणों से भी वेद का सद्भाव सिद्ध नहीं होता। निष्कर्ष यह है कि लक्षण और प्रमाण से रहित वेद का सद्भाव किसी प्रकार स्वीकार नहीं किया जा सकता।

समाधान—वेद है।

इस प्रसंग में कहते हैं, जैसा कि मन्त्र-ब्राह्मणात्मकत्व रूप वेद का लक्षण किया गया वह सर्वथा दोषरहित है। अतएव आपस्तम्ब ने यज्ञ की परिभाषा में ऐसा कहा है—'मन्त्र-ब्राह्मणयोर्वेदनामधेयम्' (आप० परि० १।३३)। मन्त्र और ब्राह्मण के स्वरूप की चर्चा आगे करेंगे। वेद का 'अपौरुषेयवाक्यत्व' ऐसा जो हमारा विवक्षित है आगे चलकर स्पष्ट होगा। वेद के सद्भाव में यथोक्त श्रुतियों, स्मृतियों और लोकप्रसिद्धियों को प्रमाण के रूप में देखना चाहिये। जिस प्रकार घट-पटादि द्रव्य स्वयं अपने प्रकाशक नहीं होते, बल्कि किसी के प्रकाश से प्रकाशित होते हैं ऐसी स्थिति में सूर्य और चन्द्र आदि का स्वयं-प्रकाश होना निर्विवाद है, उसी प्रकार मनुष्य अपने कन्धे पर स्वयं चढ़ नहीं सकता तथापि वेद, जिसकी शक्ति सर्वथा अकुण्ठित है, जो इतर समस्त वस्तुओं का प्रतिपादक है, इसी प्रकार स्वयं वह अपना भी प्रतिपादक हो सकता है। जैसा कि वैदिक सम्प्रदाय के लोग वेद की अकुण्ठित शक्ति के सम्बन्ध में कहा करते हैं—'चोदना हि भूतं भवन्तं भविष्यन्तं सूक्ष्मं व्यवहितं विप्रकृष्टमित्येवंजातीयमर्थं शक्नोत्यवगमयितुम्' (शा० भा० १।१।२) अर्थात् वेदवाक्य के द्वारा भूत, वर्तमान, भविष्य, सूक्ष्म, छिपी हुई एवं दूर की वस्तु का ज्ञान हो सकता है। ऐसी स्थिति में वेद के अस्तित्व के सम्बन्ध में जो लोक-प्रसिद्धि है उसका प्रामाण्य भी हटाया नहीं जा सकता। इस प्रकार यह स्थिर है कि लक्षण और प्रमाणों द्वारा सिद्ध वेद का निराकरण चार्वाक आदि कोई भी विरोधी नहीं कर सकता।

पृष्ठ ६ : पूर्वपक्ष—वेद व्याख्यान के योग्य नहीं।

यह हमने मान लिया कि वेद नाम का कोई पदार्थ है, तथापि हम यह स्वीकार करने के पक्ष में नहीं हैं कि वेद व्याख्यान के योग्य भी है, वेद के अप्रमाण होने के कारण उसके व्याख्यान की कोई उपयोगिता नहीं है। क्योंकि वेद इस लिए प्रमाण नहीं है कि प्रमाण का जो लक्षण आचार्यों ने स्थिर किया है वह वेद में सङ्गत नहीं होता। प्रमाण का लक्षण आचार्यों ने दो प्रकार से स्थिर किया है, कुछ के अनुसार 'सम्यगनुभवसाधनं प्रमाणम्' यह प्रमाण का लक्षण है, अर्थात् प्रमाण वह होता है जो सम्यक् अनुभव का साधन हो, तात्पर्य यह कि जिसके द्वारा सम्यक् अनुभव प्राप्त किया जाय वह प्रमाण होता है। कुछ आचार्य—'अनधिगतार्थगन्तृ प्रमाणम्' ऐसा प्रमाण का लक्षण करते हैं, अर्थात् प्रमाण वह है जो अनधिगत, अश्रुत, अज्ञातपूर्व अर्थ का बोध कराता है। ये दोनों प्रकार

के प्रमाण-लक्षण वेद में सङ्गत नहीं होते। जैसा कि वेद मन्त्रब्राह्मणात्मक है; अब हम यहाँ उपर्युक्त प्रमाण-लक्षणों की मन्त्र और ब्राह्मण में असङ्गति दिखाते हैं, क्योंकि मन्त्र और ब्राह्मण के अतिरिक्त वेद कुछ भी नहीं, अतः अगर मन्त्र भाग में भी कहीं इन दोनों लक्षणों की सङ्गति न हो सकी तो वेद का प्रमाण होना सिद्ध नहीं हो सकता। अब लीजिए, कुछ मन्त्र ऐसे मिलते हैं जो अबोधक हैं, अर्थात् वे अर्थ का बोध नहीं कराते हैं। जैसे—

'(१) अम्यक् सा त इन्द्र ऋष्टिः' (ऋ० १।१६९।३)
'याद्दृस्मिन् धायि तमपस्यया विदत्' (ऋ० ५।४४।८)
'सृण्येव जर्भरी तुर्फरी तू' (ऋ० १०।१०६।६)
'आपान्तमन्युस्तृपलप्रभर्मा' (ऋ० १०।८९।५)

पृष्ठ ७ : उपर्युक्त मन्त्रों का कोई भी अर्थ प्रतीत नहीं होता, ऐसी स्थिति में जब इन मन्त्रों में कोई अनुभव ही नहीं है तब अनुभव का सम्यक् होना एवं इन मन्त्रों का सम्यगनुभव साधन होना बहुत दूर की बात है।

दूसरे, **'अधःस्विदासीदुपरिस्विदासीत्'** यह मन्त्र (ऋ० १०।१२९।५) 'स्थाणुर्वा पुरुषो वा' की भाँति विषय के सम्बन्ध में सन्देह उत्पन्न कर देता है, अतः ऐसे वाक्य का प्रामाण्य नहीं माना जा सकता। इसी प्रकार **'ओषधे त्रायस्व'** यह मन्त्र (तै० सं० १।२।१।१) दर्भविषयक है, **'स्वधिते मैनं हिंसीः'** यह मन्त्र (तै० सं० १।२।१।१) क्षुर-विषयक है, **'शृणोत ग्रावाणः'** यह मन्त्र (तै० सं० १।३।१३।१) पाषाण विषयक है। इन मन्त्रों में चेतनारहित पदार्थ दर्भ, क्षुर और पाषाण को चेतन की भाँति सम्बोधित किया गया है। (जब कोई व्यक्ति किसी चेतन व्यक्ति से कहे कि 'तुम इसकी रक्षा करो, तुम इसे मत मारो' एवं 'सुनो' तो यह बात सङ्गत होती है, अब अगर पत्थरों से कोई कहे कि 'हे पत्थरो ! तुम सुनो' तब ऐसे व्यक्ति की वाणी को कहाँ तक प्रमाण माना जा सकता है ? इन उपर्युक्त मन्त्रों का अप्रामाण्य 'दो चन्द्र हैं' इस वाक्य की भाँति विपरीत अर्थ के बोधक होने से सिद्ध होता है। **'एक एव रुद्रो न द्वितीयोऽवतस्थे'** यह एक मन्त्र (तै० सं० १।८।६।१) है, अर्थात् रुद्र एक है दूसरा नहीं। फिर दूसरा मन्त्र यह है **'सहस्राणि सहस्रशो ये रुद्रा अधिभूम्याम्'** (तै० सं० ४।५।११।५), अर्थात् इस पृथिवी पर जो हजारों हजार रुद्र हैं। ये दोनों मन्त्र व्याघातबोधक (अर्थात् परस्पर विरुद्ध अर्थ के बोधक) होने के कारण 'मैं जीवन भर मौनी हूँ' इस वाक्य की भाँति अप्रमाण हैं।

पृष्ठ ८ : जैसा कि दूसरा प्रमाण-लक्षण 'अनधिगतार्थगन्तृ' है वह भी मन्त्र भाग में घटित नहीं होता। जैसा कि **'आप उन्दन्तु'** यह मन्त्र (तै० सं० १।२।१।१) क्षौरकाल में यजमान के सिर को जल से भिगोने के लिए प्रयुक्त होता है। एक दूसरा मन्त्र है **'शुभिके शिर आरोह शोभयन्ती मुखं मम'** (आप० मं० पा० २।८।९) अर्थात् हे फूल की माला !

---

१. ये मन्त्र ऐसे हैं कि इनका कोई अर्थ नहीं प्रतीत होता, फिर भी महर्षि यास्क ने निरुक्त में और आचार्य सायण ने अपने भाष्य में इन क्लिष्ट मन्त्रों का व्याख्यान किया है। प्रस्तुत में उन अर्थों की उपयोगिता न समझ कर हम उद्धृत नहीं कर रहे हैं।

मेरे मुख को शोभित करती हुई तू मेरे सिर पर चढ़। इस मन्त्र के द्वारा विवाह के अवसर में मङ्गलाचार के रूप में शुभिका (फूल की माला) को वर-कन्या के सिर पर रखते हैं। उपर्युक्त ये दोनों मन्त्र उसी बात को दुहराते हैं जो लोक में प्रसिद्ध है अतः इन मन्त्रों में अनधिगतार्थगन्तृत्व अर्थात् उस अर्थ का बोधक होना जो किसी अन्य प्रमाण के द्वारा अधिगत न हो, यह प्रमाण का लक्षण सङ्गत नहीं होता। इस प्रकार द्विविध प्रमाण-लक्षणों के मन्त्रभाग में सङ्गत न होने के कारण मन्त्रभाग का प्रमाण होना सिद्ध नहीं हो सकता। अतः वेद का सद्भाव मान कर भी हम मन्त्रब्राह्मणात्मक वेद को प्रमाण नहीं मानते।

उत्तर पक्ष—

'अम्यक् सा०' इत्यादि चार दुरूह मन्त्रों को जो ऊपर उद्धृत किया गया है उनका अर्थ यास्क ने अपने निरुक्त में स्पष्ट किया है अगर यास्क के द्वारा किए गए उन मन्त्रार्थोंका जिन्हें परिचय प्राप्त नहीं हैं तो इसमें उन बेचारे मंत्रों का क्या दोष? इस प्रसङ्ग में एक लोकोक्ति—'नैप स्थाणोरपराधो यदेनमन्धो न पश्यति, पुरुषापराधः स भवतीति' अर्थात् ठूँठ पेड़ का कोई अपराध नहीं, जो उसे अंधा आदमी नहीं देखता, वह तो उस अंधे का अपराध है।

'अधःस्विदा०' यह मंत्र संदेह के बोधन के लिए प्रवृत्त नहीं है, बल्कि जगत् का कारण जो कोई पर वस्तु है उसकी अति गम्भीरत का निश्चय कराने के लिए प्रवृत्त है। ऊपर और नीचे दोनों स्थानों में रहने वाली चीज निश्चय ही अत्यन्त गम्भीर होगी। जो लोग गुरु, शास्त्र एवं सम्प्रदाय की परम्परा से रहित होते हैं उन्हें वह जगत्कारण स्वरूप पर वस्तु कठिनाई से समझ में आती है इस बात को अधःस्विदासीदुपरि स्विदासीत्' इस वचोभङ्गी द्वारा प्रकट किया है। आगे के मन्त्र 'को अद्धा वेद' (ऋ० १०।१२९।६) आदि में इसी अभिप्राय को स्पष्ट किया है।

'ओषधि०' इत्यादि मन्त्रों से जिनको सम्बोधित किया गया है वे उनमें उन जड़ पदार्थों में रहने वाली अभिमानिनी चेतन देवतायें हैं। भगवान् बादरायण ने 'अभिमानि-व्यपदेशस्तु विशेषानुगतिभ्याम्' इस (ब्र० सू० वे० २।१।५) में उन देवताओं को सूत्रित किया है। श्रुतियों में 'मृदब्रवीत्' को देख कर ऐसा नहीं समझ लेना चाहिये कि जड़ मृत्तिका के बोलने का यहाँ उल्लेख किया गया है, बल्कि यहाँ 'मृत्' शब्द से मृद्गत अभिमानिनी देवता की सूचना है, क्योंकि चेतन ही वाग्व्यवहार करता है न कि जड़ की मृत्तिका। इसी प्रकार जिन मन्त्रों में 'ओषधि, पाषाण आदि' सम्बोधित किये गये हैं वहां भी अभिमानिव्यपदेश ही समझना चाहिये।

ऊपर जिस मन्त्र में एक ही रुद्र की चर्चा है, उसके विपरीत दूसरे मन्त्र में हजारों की संख्या में रुद्रों की चर्चा है उसमें परस्पर व्याघात इसलिये नहीं कि एक ही रुद्र अपनी महिमा के कारण हजारों मूर्तियों में प्रकट हो सकता है।

जल द्वारा सिर से भिंगोने और शुभिका (पुष्पमाला) को सिर पर चढ़ाने के जो मन्त्र ऊपर उद्धृत किए गए हैं, वे लोक-व्यवहार के होने से प्रसिद्ध हो सकते हैं तथापि इन कर्मों से उन-उन अभिमानिनी देवताओं का अनुग्रह तो लोक में सर्वथा अप्रसिद्ध होने के

कारण अनधिगत हैं, अतः दूसरा प्रमाण-लक्षण भी उन मन्त्रों में संगत हो जाता है। इस प्रकार मन्त्रों का अज्ञात अर्थ का ज्ञापक होना सिद्ध होता है।

इस प्रकार प्रमाण-लक्षणों के संगत हो जाने से मन्त्र भाग का प्रामाण्य सिद्ध हुआ। इसी अभिप्राय से भगवान् जैमिनि ने मन्त्राधिकरण में मन्त्रों के विवक्षितार्थत्व को सूत्रित किया है। हम इस प्रसंग में उन सूत्रों को क्रम से उद्धृत करके व्याख्यान करेंगे। पहले पूर्वपक्ष (अर्थात् मन्त्रों के अर्थ विवक्षित नहीं होते) के सूत्र इस क्रम से हैं—

पूर्वपक्ष—वैदिक मन्त्रों में अर्थ-विवक्षा नहीं है।

'तदर्थशास्त्रात्' (जै० १।२।३१)

पृष्ठ ६ : मन्त्र जिस अर्थ का अभिधान करता है, शास्त्र अर्थात् ब्राह्मण का भी वही अर्थ अभिधेय है। मन्त्र के ही अभिधेय अर्थ को अपना अभिधेय बना लेने वाला शास्त्र यह सिद्ध करता है कि मन्त्र की अर्थ-विवक्षा नहीं होती। अन्यथा जो मन्त्र स्वयं एक अर्थ को व्यक्त कर देता है, ठीक उसी अर्थ को व्यक्त करने वाला ब्राह्मण-वाक्य आखिर क्योंकर प्रयुक्त होता है, इससे स्पष्ट सिद्ध होता है कि मन्त्र भाग अपना कोई अर्थ नहीं रखता। उदाहरण के लिये **'उरु प्रथस्व'** (तै० सं० १।१।८। वा० सं० १।२२) इस मन्त्र से पुरोडाश (यज्ञसम्बन्धी अन्न) का प्रथन अर्थात् फैलाना अभिहित होता है और **'पुरोडाशं प्रथयति'** (तै० ब्रा० ३।२।८।४) यह ब्राह्मण भी वही पुरोडाश-प्रथन का अभिधान करता है। ऐसी स्थिति में यदि यह मान लिया जाय कि पुरोडाश-प्रथन मन्त्र से ही प्रतीत हो जाता है, तब इस अर्थ के बोध के लिये प्रवृत्त ब्राह्मण-वाक्य अनर्थक हो जाता है। और जब यह स्वीकार करते हैं कि मन्त्र की अर्थ-विवक्षा नहीं है तब इस मन्त्र के विनियोग को बतानेके लिये ब्राह्मणवाक्य की उपयोगिता बन जाती है। इस युक्ति के बल से यह सिद्ध हुआ कि मन्त्र केवल उच्चारण से अनुष्ठान में उपकार करते हैं, उनमें अर्थविवक्षा नहीं होती।

यह शंका होती है कि यदि मन्त्रों को केवल उच्चारणार्थ मानते हैं तब तक उसका एक मात्र अदृष्ट ही प्रयोजन माना जायेगा। और यदि उन्हें अर्थाभिधायक मानते हैं तो दृष्ट प्रयोजन का लाभ होता है। दृष्ट प्रयोजन के रहते अदृष्ट प्रयोजन को मानना उचित नहीं। अतः ब्राह्मण मन्त्रार्थ का अनुवाद करता है, यह स्वीकार करके भी मन्त्र को विवक्षितार्थ मानना चाहिये इस शंका का उत्तर देते हैं—

'वाक्यनियमात्' (जै० १।२।३२)

'अग्निर्मूर्धा दिवः ककुद्' (ऋ० सं० ८।४४।१६) इत्यादि मन्त्र-वाक्य इसी रूप में पढ़ा जाना चाहिये, ऐसा मन्त्र में नियम पाया जाता है। यदि इसको व्युत्क्रम करके 'मूर्धाग्निः' ऐसा कर देते हैं तब भी उसी अर्थ का बोध होता है। इसलिए यह सिद्ध होता है कि जैसा पाठ-क्रम नियत हो चुका है उसके साफल्य के लिए उच्चारण ही मन्त्र का प्रयोजन है, अर्थ नहीं।

यद्यपि पाठ-क्रम के नियम को अदृष्ट के लिए मान लेते हैं तथापि मन्त्र का पाठ अर्थ-बोध के लिए होता है। तब दोषान्तर उपस्थित करते हैं—

'बुद्धशास्त्रात्' (जै० १।२।३३)

'अग्नीदग्नीन् विहर' (तै० सं० ६।३।१।२) यह प्रैषमन्त्र प्रयोग के समय में पढ़ा जाता है जो आग्नीध्र अर्थात् यज्ञाग्नि को प्रज्वलित करनेवाला पुरोहित होता है, वह अपने अध्ययन-काल में ही अग्नि-विहरणादि कर्म को अपने कर्तव्य के रूप में समझा रहता है। (अग्नि का विहरण अर्थात् एक मण्डप से दूसरे मण्डप में अग्नि को ले जाना) जब कि उस आग्नीध्र को अग्निविहरण ज्ञात है, फिर उपर्युक्त मन्त्र का उच्चारण करके शासन करना व्यर्थ सिद्ध होता है। जिस पैर में उपानह है उसमें पुनः उपानह नहीं धारण करते। इसी प्रकार जिस अर्थ का ज्ञान है उसका पुनः शासन नहीं करते। ऐसी स्थिति में यह सिद्ध होता है कि मन्त्र विवक्षितार्थ नहीं होते, बल्कि उच्चारण मात्र के लिये उनका उपयोग है।

इसका उत्तर यह है कि अध्ययन काल में जो अर्थ ज्ञात है उसका कहीं प्रमादवश विस्मरण न हो जाय, अतः मन्त्र के द्वारा स्मरण करा दिया जाता है। तब फिर दोषान्तर देते हैं—

'अविद्यमानवचनात्' (जै० १।२।३४)

'चत्वारि शृङ्गा त्रयो अस्य पादा द्वे शीर्षे सप्तहस्तासो अस्य।'

(ऋ० सं० ४।५८।३)

इस मन्त्र का उच्चारण करते हैं। जब कि प्रामादिक विस्मरण के परिहार के लिए मन्त्र के द्वारा चार सींगों वाले, तीन पैरों वाले, दो सिर वाले और सात हाथ वाले, यज्ञ के साधनीभूत किसी पदार्थ का सम्भव ही नहीं, ऐसी स्थिति में मन्त्र द्वारा स्मरण किसका होगा।

तब कहते हैं कि चार सींगों आदि चिह्नों वाली कोई देवता ही हो जिनका अनुस्मरण मन्त्र के द्वारा प्रसंग-प्राप्त हो, तब तो मन्त्र में अर्थविवक्षा बन जाती है। फिर दूसरा दोष देते हैं—

'अचेतनेऽर्थबन्धनात्' (जै० १।२।३५)

'ओषधे त्रायस्वैनं' 'शृणोत ग्रावाणः' इत्यादि मन्त्रों में अचेतन द्रव्य के प्रति चेतनोचित रक्षण-श्रवण का प्रयोग है जो ठीक नहीं बैठता, अतः मन्त्र में अर्थविवक्षा नहीं।

पृ० १० : इसका समाधान 'अभिमानिव्यपदेश०' (वे० २।१।५) इस सूत्र में भगवान् बादरायण ने दे दिया है, अतः इस प्रसंग में ओषध्याद्यभिमानिनी देवता के विवक्षित होने के कारण मन्त्र में अर्थविवक्षा बन जाती है। तब दूसरा दोष इस सूत्र से देते हैं—

'अर्थविप्रतिषेधात्' (जै० १।२।३६)

'अदितिर्द्यौरदितिरन्तरिक्षम्' (ऋ० सं० १।८९।१०) यह मन्त्र आम्नात होता है जो अदिति द्यौ है वही अन्तरिक्ष है यह बात परस्पर विरुद्ध होती है। इसी प्रकार 'एक ही रुद्र' और 'हजारों रुद्र' ये दोनों बातें परस्पर विरोधी हैं। इस प्रकार मन्त्रों में अर्थविप्रतिषेध को देखकर कहा जा सकता है कि उनमें अर्थविवक्षा नहीं होती।

उत्तर में कहते हैं कि 'त्वमेव माता च पिता त्वमेव' की भाँति अन्तरिक्ष आदि रूप से अदिति की स्तुति इस मन्त्र में की गई है। इसी प्रकार एक ही रुद्र का योग के

बल से बहुत रूपों में आना सम्भव हो सकता है। अतः अर्थविप्रतिषेध की सम्भावना ठीक नहीं। तब दोषान्तर देते है—

'स्वाध्यायवद्वचनात्' (जै० १।२।३७)

पूर्णिका नाम की कोई स्त्री अववात अर्थात् तुषविमोचन के लिये व्रीहि का अवहनन करती है। उसके समीप बैठकर माणवक स्वाध्याय कर रहा है। ऐसे ही प्रसङ्ग में वह माणवक अवघात-मन्त्र का पाठ करने लगता है। यद्यपि यहाँ अवघात एवं अवघातमन्त्र का पाठ दोनों एक ही अवसर पर हो रहे हैं, तथापि उस मन्त्र में अर्थ के प्रकाशन की विवक्षा नहीं है, क्योंकि प्रत्येक मुसल के प्रहार के समय वह अवघात-मन्त्र पढ़ा नहीं जा रहा है केवल उसे याद करने के उद्देश्य से अन्य मन्त्रों के साथ उसका माणवक अभ्यास कर रहा है। माणवक के स्वाध्यायकाल में पठित अवघात-मन्त्र जिस प्रकार पूर्णिका के प्रति अपना अर्थ नहीं कहता उसी प्रकार यज्ञ के अवसर में भी उसे अपना अर्थ विवक्षित नहीं होगा।

इस पर कहना यह है कि माणवक उस मन्त्र का अभ्यास करते हुए अर्थ की विवक्षा नहीं रखता और न पूर्णिका ही उस अवघात-मन्त्र के अर्थ को समझ सकती है। लेकिन यज्ञकाल में मन्त्रोच्चारण करने वाले अध्वर्यु को अर्थ की विवक्षा रहती है और उसे मन्त्रार्थ का बोध भी होता है, अतः उपर्युक्त दोष खण्डित हो जाता है। तब दूसरा दोष देते हैं—

'अविज्ञेयात्' (जै० १।२।३८)

अर्थात् कुछ ऐसे मन्त्र होते हैं जिनका अर्थ समझ में नहीं आता। जैसे 'अम्यक्सा त इन्द्र०' और 'सृण्येव जर्भरी तुर्फरी तु०' इत्यादि।

इसका समाधान यह है कि अर्थज्ञान के लिए निगम, निरुक्त तथा व्याकरण का अभ्यास करना चाहिए। इनकी प्रवृत्ति इसी के लिए तो है। तब दूसरा दोष देते हैं—

'अनित्यसंयोगान्मन्त्रानर्थक्यम्' (जै० १।२।३९)

'किं ते कृण्वन्ति कीकटेषु' इस मन्त्र में कीकट नाम के जनपद का उल्लेख है। इसी प्रकार 'नैचाशाखं नाम नगरं प्रमगन्दो राजा' ये अनित्य अर्थ मन्त्रों में आम्नात हैं। इससे सिद्ध होता है कि प्रमगन्द नामक राजा से मन्त्र पहले का नहीं है। इस प्रकार मन्त्रों के साथ अनित्य पदार्थों का संयोग देख कर मन्त्रों का अनर्थक होना प्रतीत होता है (क्योंकि यदि यह मान लेते हैं कि मन्त्र में अर्थ-विवक्षा होती है तब तो स्वीकार करना पड़ेगा कि प्रमगन्द राजा के बाद ही मन्त्र की रचना हुई, यह स्वीकार करना सिद्धान्त से सर्वथा विरुद्ध है, अतः अगत्या कह सकते हैं कि मन्त्रों में अर्थविवक्षा नहीं होती, फिर मन्त्रों के पहले प्रमगन्द के होने की आशंका ही नहीं रह जाती।

पृष्ठ ११ : इस प्रकार 'तदर्थशास्त्र' आदि हेतुओं से मन्त्रों की अर्थ-विवक्षा सिद्ध नहीं होती, किन्तु उनके उच्चारण मात्र से अदृष्ट प्रयोजन का लाभ होता है यह पूर्वपक्ष उपस्थापित हुआ।

अब सिद्धान्त—पक्ष को सूत्र—बद्ध करते हैं—

उत्तर पक्ष:—मन्त्रों में अर्थ-विवक्षा है।

'अविशिष्टस्तु वाक्यार्थः' (जै० १।२।४०)

इस सूत्र में प्रयुक्त 'तु' शब्द पूर्वपक्षी का अभिमत मन्त्रों के अदृष्ट के लिए उच्चारण-मात्र का निवारण करता है। सूत्रार्थ यह है कि जिस प्रकार लोक में क्रिया और कारक के सम्बन्ध से वाक्यार्थ की प्रतीति होती है उसी प्रकार वेद में भी जब क्रिया–कारक से सम्बद्ध वाक्य का प्रयोग होता है तब उसका भी उद्देश्य अर्थ का ज्ञान ही होता है। इससे यह सिद्ध होता है कि अर्थ-प्रत्यायन के उद्देश्य से वाक्य का उच्चारण लोक और वेद में अविशेष रूप से होने के कारण यज्ञ के प्रयोग में भी मन्त्रवाक्य अपना अर्थ अभिधान करते हैं। मन्त्र से प्रकाशित अर्थ का ही अनुष्ठान किया जा सकता है, अप्रकाशित अर्थ का नहीं। इसलिये मन्त्रोच्चारण का अर्थ प्रकाशन रूप दृष्ट प्रयोजन सिद्ध होता है।

यहाँ शंका होती है—**'अभ्रिरसि नारिरसि'** (वा० सं० ११।१०) से लेकर **'त्रैष्टुभेन त्वा छन्दसाददे'** (तै० सं० ४।१।१।३-४) तक मन्त्र आम्नात है। इसी मन्त्र से अभ्रि (फावड़ा) का ग्रहण करना प्रतीत हो जाता है, फिर ब्राह्मण विधान करता है **'चतुर्भिरभ्रिमादत्ते'** (तै० सं० ५।१।१४) अर्थात् चार मन्त्रों से अभ्रि (फावड़ा) को पकड़ता है। ऐसी स्थिति में जब कि मन्त्र के द्वारा अभ्र्यादान पूर्व में सूचित ही हो गया है, फिर ब्राह्मण का अभ्र्यादान का विधान करना मन्त्रार्थविवक्षावादी के मत में व्यर्थ सिद्ध होता है। इसका उत्तर इस सूत्र से देते हैं—

'गुणार्थेन पुनः श्रुतिः' (जै० १।२।४१)

मन्त्र से अभ्र्यादान रूप अर्थ की प्रतीति के हो जाने पर भी ब्राह्मण में पुनः अभ्र्यादान का श्रवण जो हुआ उसका उपयोग **'चतुर्भिः'** के द्वारा चार संख्या के विशेष गुण के विधान के लिये माना जा सकता है। अगर ब्राह्मण ऐसा विधान नहीं करता तब चार मन्त्रों में जिस किसी एक मन्त्र से अभ्र्यादान की सिद्धि हो जाती। इस प्रकार ब्राह्मण व्यर्थ सिद्ध नहीं होता।

शंका होती है कि **'इमामगृभ्णन् रशनामृतस्य'** (वा० सं० २२।२) इस मन्त्र की सामर्थ्य से ही अवगत हो जाता है कि रशना अर्थात् लगाम का आदान करे अर्थात् हाथ में पकड़े। इस प्रकार जब कि मन्त्र के द्वारा रशनादान की बात मालूम हो जाती है, फिर इसी कार्य के लिए प्रयुक्त, इस मन्त्र का विनियोग बताने वाला **'इत्यश्वाभिधानीमादत्ते'** अर्थात् अश्व की रशना ग्रहण करे यह ब्राह्मणवाक्य ऐसी स्थिति में व्यर्थ सिद्ध होता है। इसका समाधान करते हुए सूत्रकार कहते हैं—

'परिसंख्या'(१) (जै० १।२।४२)

---

१. यहाँ परिसंख्या को स्पष्ट रूप से समझ लेना चाहिए। मीमांसा शास्त्र के अनुसार विधि तीन प्रकार की होती है—अपूर्वविधि, नियमविधि और परिसंख्याविधि। जिसमें साध्य-साधन भाव प्रत्यक्ष और अनुमान आदि प्रमाणों से अवगत न हो उसे अवगत या प्राप्त कराने वाली विधि को अपूर्वविधि कहते हैं। जैसे, **'ज्योतिष्टोमेन स्वर्गकामो यजेत'** अर्थात् जिसे स्वर्ग अभीष्ट हो वह ज्योतिष्टोम याग करे। यहाँ प्रत्यक्ष और अनुमान आदि किसी प्रमाण से

पृष्ठ १२ : अर्थात् वर्जनबुद्धि ही परिसंख्या है, अर्थात् 'अश्व की रशना को ग्रहण करे' यह ब्राह्मणवाक्य 'गर्दभ की रशना को ग्रहण न करे' इस प्रकार की वर्जनबुद्धि उत्पन्न करता है। यही इस ब्राह्मणवाक्य का प्रयोजन है।

यहाँ पर शंका होती है कि परिसंख्या में तीन दोष होते हैं—श्रुतहानि, अश्रुत कल्पना और प्राप्तबाध। जैसे, 'अश्वाभिधानीमादत्ते' इस वाक्य में अश्व की रशना का आदान प्रतीत होता है उसे हम छोड़ देते हैं यह दोष श्रुतहानि है, और अश्व से अतिरिक्त जो गर्दभ है उसकी रशना को ग्रहण करना यह दूसरा अश्रुत अर्थ कल्पित कर लेते हैं, अश्रुतकल्पना है, क्योंकि यह अर्थ वाक्य की शक्तिमर्यादा से प्राप्त नहीं होता और सामान्य रशनादान से जो गर्दभ का रशनादान प्राप्त था उसका बाध होता है। यहाँ अभिधा से यह तीनों अर्थ नहीं गृहीत होते हैं, किन्तु लक्षणा माननी पड़ती है, इस लिए दोष माना जाता है। परिसंख्या दो प्रकार की होती है श्रौती और लाक्षणिकी। जहाँ एवकार अथवा नञ् श्रुत है वहाँ शक्ति के द्वारा इतरव्यावृत्ति मालूम होती है इसलिए इसे श्रौती परिसंख्या कहते हैं। जहाँ इतरव्यावृत्ति का बोधक शब्द नहीं रहता वहाँ लक्षणा द्वारा इतरव्यावृत्ति मानी जाती है अतः इसे लाक्षणिकी परिसंख्या कहते हैं। प्रकृत में दोष का समाधान करते हुए कहते हैं कि 'इमामगृभ्णन्' यह मन्त्र रशनाग्रहण-प्रकाशन सामर्थ्य से अश्वरशना और गर्दभ-रशना दोनों के आदान में प्रवृत्त होता है, इसी समय 'इत्यश्वाभिधानीमादत्ते' यह ब्राह्मण-वाक्य अश्वरशना के ग्रहण में मन्त्र का विनियोग बता देता है। तब लिङ्ग से श्रुति की कल्पना नहीं होने के कारण गर्दभरशना के ग्रहण में मन्त्र की जो अप्राप्ति है उसी को सूत्रकार ने परिसंख्या शब्द से व्यवहार किया है। जब कि मन्त्र-वाक्य से गर्दभरशना

ज्योतिष्टोम का साधन होना और स्वर्ग का साध्य होना अवगत नहीं है, केवल इस विधि से ही दोनों में साध्य-साधनभाव ज्ञात होता है, अतः यह अपूर्वविधि है। नियमविधि वह होती है जिससे अप्राप्त अंश का पूरण होता है। जैसे, 'व्रीहीनवहन्ति' अर्थात् व्रीहि का अवघात करे। यहाँ व्रीहि का वैतुष्य या तुषविमोक (भूसी छुड़ाना) प्रयोजन है, जो नख-विदलन अथवा मूसलप्रहार से भी प्राप्त है। अर्थात् व्रीहि की भूसी को अलग करना नख के द्वारा भी सम्भव है और मूसल के प्रहार के द्वारा भी सम्भव है। ऐसी स्थिति में 'व्रीहीनवहन्ति' यह विधि अवघात या मूसलप्रहार के द्वारा ही वैतुष्य सम्पन्न करना बताती है, अतः यह नियम-विधि है। जहाँ एक ही समय में दो प्राप्त होते हैं वहाँ एक को निषेध या वर्जन करना परि-संख्याविधि है। जैसे 'पञ्च पञ्चनखा भक्ष्याः' अर्थात् पाँच नखवाले पाँच प्राणियों का भक्षण करे। जब कि लोग बिना इस विधि-वाक्य के सुने ही पञ्चनख प्राणियों का भक्षण राग से करते हैं, ऐसी स्थिति में यह मानना पड़ेगा कि यह वाक्य पञ्चनख प्राणियों के भक्षण में और प्रवृत्त नहीं करता, बल्कि जो पञ्चनख प्राणी नहीं हैं उनका भक्षण न करने के उद्देश्य से यह वाक्य कहा गया है। शश, गोधा, कूर्म, खड्गी और शल्यक ये पाँच पञ्चनख प्राणी हैं। प्रस्तुत में जब कि मन्त्रवाक्य से अश्व और गर्दभ दोनों का रशनादान प्राप्त है तब ब्राह्मण-वाक्य अश्व की रशना पकड़ने के लिए विधि करता है, उसका तात्पर्य गर्दभ की रशना न पकड़ने का निषेध करना है, इसी निषेध या इतरव्यावृत्ति को परिसंख्या कहते हैं।

की प्राप्ति होती तब प्राप्तबाध का दोष माना जाता। यहाँ तो वह प्राप्त ही नहीं है। फिर प्राप्तबाध दोष की सम्भावना ही कैसे हो सकती है? मन्त्र तो गर्दभरशना के आदान के अंश में सर्वथा निराकांक्ष हो जाता है। इस प्रकार निषेधार्थ गर्दभरशनादान की कल्पना अश्रुतकल्पना नहीं होती और रशनादान रूप विध्यर्थ का त्याग नहीं होता। इस प्रकार विध्यर्थ का त्याग, अश्रुतकल्पना और प्राप्तबाध परिसंख्याके निर्दिष्ट इन तीनों दोषों का निराकरण हो जाता है।

लेकिन जो 'उरु प्रथस्व' इस मन्त्र में 'प्रथयति' इस ब्राह्मण के व्यर्थ होने की शंका तदवस्थ बनी है उसका समाधान करते हैं—

'अर्थवादो वा' (जै० १।२।४३)

सूत्र में प्रयुक्त 'वा' शब्द ब्राह्मण के वैयर्थ्य का निवारण करता है। यहाँ ब्राह्मण के द्वारा अर्थवाद किया गया है। अर्थात् पुरोडाश यज्ञपति (यजमान) को बढ़ाता-सम्पन्न करता है, इस अर्थवाद के लिये ब्राह्मण में भी विधि का पाठ होता है। अगर कोई यह शंका करे कि 'प्रथयति' इस विधि का शब्द द्वारा प्रथन को उद्देश्य करके 'यज्ञपतिमेव' इत्यादि अर्थवाद के द्वारा स्तुति करते तो ठीक था। प्रस्तुत में यज्ञपति का प्रथन कैसे प्राप्त होता है। इसका उत्तर देते हैं कि अध्वर्यु मन्त्र के कथनानुसार पुरोडाश को उद्देश्य करके 'प्रथस्व' यह कहता है। इस कथन से अध्वर्यु द्वारा किया हुआ प्रथन प्राप्त होता है। जिस प्रकार लोक में जो कोई कहता है कि 'करो' तो इससे उसका कराना भी सिद्ध होता है। उसी प्रकार जो अध्वर्यु 'प्रथस्व' कहता है उसका 'प्रथन कराना' भी सिद्ध होता है।

जैसा कि 'अग्निर्मूर्धा दिवः' (ऋ० सं० ८।४४।१६) इस मन्त्र में पाठक्रम के नियम को देख कर मन्त्रों का अदृष्टार्थ होना सिद्ध किया था, उसका उत्तर देते हैं—

पृष्ठ १३ : **'अविरुद्धं परम्'** (जै० १।२।४४)

'वाक्यनियमात्' इस दूसरे सूत्र में मन्त्रों में पाठक्रम का नियम माना है वह हमारे पक्ष में भी सम्मानित सिद्धान्त है, क्योंकि हम पाठक्रम के नियम से अदृष्ट का निवारण नहीं करते। यह कहते हुए भी हम इतना ही विशेष कहते हैं कि जब मन्त्र के उच्चारण से यह अर्थ का प्रत्यायन रूप दृष्ट प्रयोजन प्राप्त है तब उसकी उपेक्षा न करनी चाहिये।

शंका है कि 'प्रोक्षणीरासादय' यह मन्त्र (वा० सं० १।२८) अध्ययन काल में जानी हुई बात को करने के लिये आज्ञा देता है, यह ठीक नहीं उपानहधारी दूसरा उपानह ग्रहण नहीं करना। इसका परिहार करते हैं—

'सम्प्रैषकर्मणो गर्हानुपलम्भः संस्कारत्वात्' (जै० १।२।४५)

जिस कर्म में निर्देश या आज्ञा अथवा शासन है उसकी आलोचना ठीक नहीं, जो अर्थ पहले से ज्ञात है उसका अनुस्मरण मन्त्र के द्वारा जो होता है उसमें नियमादृष्ट रूप संस्कार उत्पन्न होता है। इस अंश में उनका उपयोग अवश्य है।

और जैसा है कि 'चत्वारि शृङ्गा०' (ऋ०सं० ४।५८।३) यह मन्त्र उस अर्थ का अभिधान करता है जो वस्तुतः नहीं है—असत् है। इसका समाधान देते हैं—

'अभिधानेऽर्थवादः' (जै० १।२।४६)

जहाँ वाक्य असत् अर्थ (वस्तुतः न रहनेवाला) अर्थ का अभिधान करता हो वहाँ गौण अर्थ मान लेना चाहिये। उदाहरणार्थ इसी मन्त्र को लीजिए—'होता, अध्वर्यु, उद्गाता और ब्रह्मा ये चार इस कर्म के शृङ्ग हैं, प्रातः, मध्याह्न और सायंकाल के सवन (स्नान) इसके तीन पाद हैं, पत्नी (यजमान की पत्नी) और यजमान इसके दो सिर हैं और गायत्री आदि सात छन्द इसके सात हाथ हैं तथा ऋग्वेद आदि तीन वेदों से यह कर्म तीन प्रकार से बँधा हुआ है। यह वृषभ इसलिए है कि काम अर्थात् इच्छाओं का वर्षण करता है और यह वार-बार स्तोत्र और शस्त्र आदि शब्दों को करता है। इस प्रकार यह प्रौढ़ यज्ञरूपी देव मनुष्यों में आकर प्रतिष्ठित हुआ है, अर्थात् इसके अधिकारी मनुष्य ही हैं।' इस प्रकार के गौण प्रयोग लोक में भी मिलते हैं, उदाहरण के लिये किसी नदी की इस प्रकार स्तुति करते हैं—चक्रवाकस्तनी, हंसदन्तावली, काशवस्त्रा, शैवालकेशिनी। अर्थात् इस नदी रूपी नारी के चक्रवाक स्तन हैं, हंस दाँतों की पंक्तियाँ हैं काश के रूप में यह श्वेतवस्त्र धारण किए है और शैवाल इसके केश हैं। इसी प्रकार 'ओषधे त्रायस्व' और 'शृणोत ग्रावाणः' इत्यादि अचेतनविषयक सम्बोधनों को स्तुतिपरक समझना चाहिए। जिस वपन के करने से ओषधि भी त्राण पाती है उसमें उसका वपनकर्ता त्राण को प्राप्त करता है फिर क्या कहना? उसी प्रकार पाषाण भी प्रातःकालीन अनुवाक अर्थात् वेद-पाठ को सुनते हैं फिर विद्वान् ब्राह्मणों की क्या बात! इत्यादि इन मन्त्रों का अभिप्राय प्रकट होता है।

जैसा कि 'अदितिर्द्यौरदितिरन्तरिक्षम्' (ऋ० सं० १।८।९।१०) इस मन्त्र में विप्रतिषेध अर्थात् परस्पर विरोध का दोष लगाया था, उसका समाधान करते हैं—

'गुणादविप्रतिषेधः स्यात्' (जै० १।२।४७)

जिस प्रकार 'त्वमेव माता च पिता त्वमेव' में गौण (लाक्षणिक) प्रयोग मान लेने पर परस्पर विरोध की आशंका मिट जाती है उसी प्रकार इस प्रसंग में भी गौण-प्रयोग समझना चाहिये, अर्थात् एक ही अदिति की द्यौ और अन्तरिक्ष रूप में स्तुति की गई है। इसी प्रकार एक रुद्र के प्रयोग वाले कर्म में 'एको रुद्रः' कहते हैं और सौ रुद्र के प्रयोग के अवसर पर 'शतं रुद्राः' कहते हैं। ऐसी संगति कर लेने पर मन्त्रों में परस्परविरोध नहीं रह जाता।

पृष्ठ १४ : जैसा ऊपर कहा है कि स्वाध्याय का अध्ययन करता हुआ माणवक पूर्णिका की अवहति अर्थात् मुसलप्रहार को प्रकाशित करना नहीं चाहता। बल्कि वह अपना अलग स्वाध्याय करते हुए अवघात मन्त्र का उच्चारण करता है और पूर्णिका अलग व्रीह्यवहनन कर रही है। इस आक्षेप का समाधान इस सूत्र से देते हैं—

'विद्याऽवचनमसंयोगात्' (जै० १।२।४८)

वेद विद्या के स्वाध्याय के अवसर में अर्थ का अवचन अर्थात् अनपेक्षा रहती है उसका एकमात्र कारण है यज्ञ का तत्काल न होना। यज्ञ के अवसर पर मन्त्र के अर्थ की अपेक्षा होती है। न तो पूर्णिका का अवघात तत्काल यज्ञ का अपने साथ संयोग रखता है और

न तो माणवक ही यज्ञानुष्ठान करता है। अतः माणवक के उस स्वाध्याय से यज्ञ का कोई उपकार नहीं होने के कारण तत्काल मन्त्र में अर्थ-विवक्षा नहीं भी मान सकते हैं लेकिन यज्ञ के अवसर में तो अर्थविवक्षा होती ही है।

पृष्ठ १४ : जैसा कि 'अम्यक् सा त इन्द्र०' और 'सृण्येव जर्भरी०' इत्यादि मन्त्रों का अर्थ अति दुरूह होने के कारण मन्त्रों के अर्थ न होने का जो पहले प्रतिपादन किया गया उसका समाधान देते हैं—

'सतः परमविज्ञानम्' (जै० १।२।४९)

अर्थात् मन्त्र तो उन दुरूह मन्त्रों में भी विद्यमान रहता है, लेकिन प्रमाद और आलस्य के वशीभूत मनुष्य उसे समझ नहीं पाता। अध्येता को निगम, निरुक्त और व्याकरण में निर्दिष्ट विधानों के अनुसार धातुओं से वैदिक मन्त्रों का अर्थ-ज्ञान कर लेना चाहिए। जैसा कि 'जर्भरी तुर्फरी' में द्विवचनान्त देख कर कहा जा सकता है कि यह मन्त्र अश्विनी-कुमारों के लिए कहा गया है। उनका सूक्त भी ऋग्वेद में इस प्रकार है—'अश्विनोः कामप्रमा' (ऋ० १०।१०६।११)। इसी अभिप्राय को लेकर निरुक्तकार इस प्रकार व्याख्यान करते हैं—'जर्भरी भर्तारौ इत्यर्थः' 'तुर्फरी हन्तारौ इत्यर्थः'। इसी प्रकार 'अम्यक् सा त इन्द्र०' इस मन्त्र को भी समझ लेना चाहिए।

जैसा कि पहले आक्षेप करते हुए कहा है कि प्रमगन्द आदि अनित्य पदार्थों के संयोग से मन्त्र का अनादि होना सिद्ध नहीं होता, उसका समाधान इस सूत्र में है—

'उक्तश्चानित्यसंयोगः' (जै० १।२।५०)

अर्थात् प्रथम पाद के अन्तिम अधिकरण में संयोग के इस दोष का परिहार किया है। यह इस प्रकार है—वहां पूर्वपक्ष के रूप में वेदों का पौरुषेयत्व सिद्ध करते हुए 'काठक' 'कालापक' को उद्धृत करके वेद के साथ पुरुषों का सम्बन्ध उनके पौरुषेयत्व की सिद्धि में हेतु रूप में प्रस्तुत किया है। और दूसरा पौरुषेयत्व साधक हेतु इस सूत्र से प्रस्तुत किया है—

'अनित्यदर्शनाच्च' (जै० १।१।२८)

इसका यह अर्थ है—'बबरः प्रावाहणिरकामयत' (तै० सं० ७।१।१०।२) इस मन्त्र में अनित्य अर्थों के देखने से यह सिद्ध होता है कि इन अनित्य पदार्थों के पहले वेद नहीं था, अतः उसका पौरुषेय होना सुतरां सिद्ध हो जाता है। इसका उत्तर इस सूत्र से दिया है—

'परन्तु श्रुतिसामान्यमात्रम्' (जै० १।१।३१)

इसका यह अर्थ है—जो कि काठक, कालापक आदि का वेद में उल्लेख मिलता है वह प्रवचननिमित्त है, अर्थात् उन-उन मन्त्रों के साथ प्रवक्ताओं की संज्ञा जुड़ गई है और जो कि बबर आदि अनित्य पदार्थों का समाख्यान है उसे शब्दसामान्य मात्र समझना चाहिए, न कि वहां बबर नामधारी कोई पुरुष विवक्षित है, किन्तु यह 'बबर' शब्दानुकृति रूप है। इस प्रकार 'बबर' ऐसा शब्द करता हुआ वायु यहां कहा गया है और उसका दूसरा विशेषण 'प्रावाहणि' है, अर्थात् प्रकर्ष से वहनशील। जहां किसी शब्द में अनित्य अर्थ की सम्भावना हो वहां इसी प्रकार नित्य अर्थ को संगत कर लेना चाहिए। इस प्रकार

किसी प्रकार के दोष के सम्भव न होने से मन्त्र के अर्थ विवक्षित होते हैं और उनका प्रयोग अपने अर्थ के प्रकाशन के लिए ही होता है।

पृष्ठ १५ : फिर शंका होती है कि यह माना कि यदि मन्त्रों का प्रयोग उनके अर्थ के प्रकाशन के उद्देश्य से होता है और इससे अदृष्ट प्रयोजन के बजाय दृष्ट प्रयोजन का लाभ भी होता है। लेकिन जब तक इस युक्ति का उपोद्बलक अर्थात् समर्थक कोई वैदिक चिह्न हम नहीं देखते तब तक उस दृष्ट प्रयोजन की युक्ति को भी नहीं स्वीकार कर सकते। इसका उत्तर देते हैं—

लिङ्गोपदेशश्च तदर्थवत्' (जै० १।२।५१)

'आग्नेय्याग्नीध्रमुपतिष्ठते' यह ब्राह्मण-वाक्य है। इसका अर्थ है कि जिस ऋचा से अग्नि देवता का प्रकाशन होता है वह आग्नेयी ऋचा कहलाती है। आग्नेयी ऋक् के द्वारा आग्नीध्र इस नाम के अग्न्याधान के मण्डप की यज्ञाग्नि को प्रज्वलित करने वाला पुरोहित उपस्थान (मन्त्रपूर्वक स्तोत्र) करे। इस प्रकार उपस्थान का उपदेश करता हुआ ब्राह्मण यह नहीं कहता कि 'अग्ने नय' (ऋ० १।१८९।१) इस ऋचा के द्वारा उपस्थान करे किन्तु आग्नेयीत्व के लिङ्ग (चिह्न) के अनुसार उपदेश करता है। अर्थात् जिस ऋचा का देवता अग्नि हो, तात्पर्य यह कि जिस ऋचा में अग्नि की प्रधानता हो, ऐसी ऋचा के द्वारा उपस्थान करने के लिये वह उपदेश करता है। इसलिये 'आग्नेय्या' यह देवतावाची तद्धितान्त निर्देश भी उपपन्न होता है। इस प्रकार ब्राह्मण के द्वारा आग्नेयी ऋचा की ओर निर्देश करने से सिद्ध होता है कि ऋक् मन्त्रों में अर्थ भी विवक्षित होता है, अन्यथा ब्राह्मण मन्त्र के प्रतीक को देकर उपस्थान का उपदेश नहीं करता। अतः यह सिद्ध है कि मन्त्र का प्रयोग काल में उच्चारण उसके अर्थ के प्रत्यायन के लिए होता है।

मन्त्र के विवक्षितार्थ होने में दूसरा हेतु देते हैं—

'ऊहः' (जै० १।२।५२)

अर्थात् प्रकृति या तदवस्थ रूप से आम्नात मन्त्र की विकृति या भिन्न-रूप में अर्थ के संगत करने के लिए उस विकृति के उचित दूसरे पद का प्रक्षेप के द्वारा पाठ बना लेने को 'ऊह' कहते हैं। उदाहरण के लिए—**'अन्वेनं माता मन्यतामनु पितानु भ्राता'** यह पशु के सम्बन्ध में प्रकृति रूप से मंत्र-पाठ है (मै० सं० ४।१३।४)। इस मन्त्र की विकृति में दो पशु के होने पर **'अन्वेनौ माता मन्यताम्'** ऐसा 'ऊह' कर लिया जाता है। और यदि बहुत पशु हुए तब मन्त्र का विकृति में **'अन्वेनान् माता मन्यताम्'** यह पाठ होगा। इस मन्त्र का व्याख्यान रूप ब्राह्मण इस प्रकार आम्नात होता है—**'न माता वर्द्धते न पिता।'** यहां यह विचारणीय है कि क्या इस ब्राह्मण से शरीर की वृद्धि का निषेध किया जा रहा है या शब्द की वृद्धि का ? जब एकवचनान्त मातृ शब्द का 'मातरौ' यह द्विवचनान्त अथवा 'मातरः' यह बहुवचनान्त रूप से प्रयोग हो तब शब्द की वृद्धि होगी। शरीर की वृद्धि का निषेध किया नहीं जा सकता क्योंकि बाल्य, कौमार और यौवन आदि अवस्थाओं के अनुसार शरीर की वृद्धि तो प्रत्यक्ष है, अतः ब्राह्मण 'पिता' और 'माता' के शरीर की वृद्धि का निषेध नहीं करता। पारिशेष्यात् इस प्रसङ्ग में शब्द-वृद्धि का ही निषेध किया

गया है। इस प्रकार यहां मातृ-पितृ शब्द की वृद्धि का निषेध करके 'एनम्' इस शब्द की अर्थ के अनुसार वृद्धि सूचित है। अर्थ के दो होने पर द्विवचन अथवा बहुत होने पर बहुवचन के रूप में यही वृद्धि का निर्देश है। जब कि यहां मन्त्र का अर्थ विवक्षित नहीं होता तब पशुद्वित्व की स्थिति में और पशु-बहुत्व की स्थिति में क्रम से द्विवचन का 'ऊह' नहीं सम्भव था। इसलिए सिद्ध है कि मन्त्र में अर्थ विवक्षित होता है।

इसी प्रसङ्ग में तीसरा हेतु उपस्थित करते हैं—

'विधिशब्दाच्च' (जै० १।२।५३)

पृष्ठ १६ : मन्त्र का व्याख्यान रूप शब्द जो ब्राह्मणों में निर्दिष्ट है उसे 'विधि शब्द' कहते हैं। वह इस प्रकार आम्नात होता है–'**शतं हिमाः शतं वर्षाणि जीव्याः स्म इत्येव एतदाह**' (श० ब्रा० २।३।४।२१) इस ब्राह्मण में प्रयुक्त 'शतं हिमाः' यह ब्राह्मण के द्वारा व्याख्येय मन्त्र का प्रतीक है और इसके अतिरिक्त इस मन्त्र का तात्पर्य व्याख्यान किया गया है। (इस ब्राह्मण का अर्थ है कि 'शतं हिमाः' इस प्रतीक वाला मंत्र 'हम लोग सौ वर्ष तक जीवित रहें' यह कहता है।) अब यदि मन्त्र के विवक्षितार्थ होने में सन्देह है तो फिर इस प्रकार ब्राह्मण के द्वारा मन्त्र के तात्पर्य के व्याख्यान का क्या अभिप्राय हो सकता है? ऐसी स्थिति में मान लेना होगा कि मन्त्र विवक्षितार्थ होते हैं, प्रयोग के समय उनके अर्थ के प्रकाशन के लिए उनका उच्चारण करना चाहिए।

अब तक जो मन्त्र के विवक्षितार्थ होने के सम्बन्ध में दोनों पक्षों के विचार हुए उनका संगृहीतार्थ इस प्रकार है—'उरु प्रथस्व' इत्यादि मन्त्र क्या एकमात्र अदृष्ट उत्पन्न करने के उद्देश्य से उच्चरित होते हैं या यज्ञों में पुरोडाश-प्रथम आदि के अर्थ को स्वयं प्रकट करते है अर्थात् उनका अर्थ विवक्षित होता है? इस प्रश्न में पूर्वपक्षी के अनुसार ये मन्त्र एकमात्र अदृष्ट या पुण्य के हेतु हैं अर्थात् उनके उच्चारणमात्र से अदृष्ट होता है, क्योंकि ब्राह्मण मन्त्र के द्वारा उक्त को पुनः आम्नात करता है। ब्राह्मण व्यर्थ न सिद्ध हो इसलिए मंत्र को एक मात्र उच्चारणार्थ अदृष्टमात्र की सिद्धि के लिए स्वीकार करते है। इस पूर्वपक्ष का खण्डन करके मन्त्र के अर्थ का भान होना रूप दृष्ट प्रयोजन के लाभ को स्वीकार कर अदृष्ट के मानने की अपेक्षा दृष्ट मन्त्र से अर्थ का लाभ सिद्धान्त में स्थिर किया गया है।

पूर्वपक्ष—ब्राह्मण भाग का प्रामाण्य नहीं।

माना कि वेद के एक अंश मन्त्रों का प्रामाण्य है, किन्तु दूसरे अंश ब्राह्मण का प्रामाण्य हम स्वीकार नहीं करते। जैसा कि ब्राह्मण के भेद हैं—विधि और अर्थवाद। आपस्तम्ब में कहा है—कर्मचोदना ब्राह्मणानि, ब्राह्मणशेषोऽर्थवादः। अर्थात् कर्म की ओर प्रेरणा अर्थात् विधियां ब्राह्मण हैं तथा शेष ब्राह्मणों की जिनमें कर्मचोदना नहीं है उन्हें अर्थवाद कहते हैं। विधि के भी दो प्रकार हैं—अप्रवृत्त-प्रवर्तन और अज्ञातार्थज्ञापन। (पहला कर्म काण्ड में और दूसरा उपनिषद् में अर्थात् ज्ञानकाण्ड में होती है)।

आग्नावैष्णवं पुरोडाशं निर्वपन्ति दीक्षणीयम्' (ऐ० ब्रा० १।१) यह ब्राह्मण दीक्षणीया इष्टि का विधायक है। इस विधि-वाक्य को सुनने से इस इष्टि में पुरुष की प्रवृत्ति होती है। यह वाक्य अग्नि-विष्णुसम्बन्धी पुरोडाश के निर्वपन का विधान करके अप्रवृत्त की

ओर प्रवृत्त करता है, क्योंकि ऐसे कार्य की ओर किसी अन्य प्रमाण से कोई प्रवृत्त नहीं होता। 'आत्मा वा इदमेक एवाग्र असीत्' (ऐ० आ० २।४।१) इत्यादि ब्रह्मकाण्डगत विधियाँ अज्ञातज्ञापक हैं, अर्थात् जो विषय प्रत्यक्षादि किसी अन्य प्रमाण से ज्ञात नहीं उसका ज्ञापन करती हैं। जैसा कि इस विधि का अर्थ है कि 'पहले आत्मा ही एक (केवल) था', आत्मा के एक या केवल होने की बात किसी अन्य प्रमाण से विदित न थी, इस विधि ने ज्ञापन किया। इस प्रकार कर्मकाण्ड में आई हुई 'जर्त्तिलयवाग्वा वा जुहुयाद् गवीधुकयवाग्वा वा' (तै० सं० ५।४।३।२) इत्यादि विधियों का प्रामाण्य नहीं है, क्योंकि इस विधि वाक्य ने प्रवृत्ति के अयोग्य द्रव्य का विधान किया है अतः अयोग्य द्रव्य के सम्यक् अनुभव के साधन न होने के कारण उक्त विधिवाक्य का प्रामाण्य स्वीकार नहीं किया जा सकता। विधिवाक्य के द्वारा विहित द्रव्य जर्तिल आदि की अयोग्यता समाम्नात है— 'अनाहुतिर्वै जर्त्तिलाश्च गवीधुकाश्च' इस वाक्य में जङ्गली तिल और गोधूम का आहुति द्रव्य होना निषेध किया है। इसलिए जर्त्तिलादिविधि बाधित होने के कारण प्रमाण नहीं हो सकती। इसी प्रकार ऐतरेय, तैत्तिरीय आदि ब्राह्मणों में 'तत्तन्नादृत्यम्' अर्थात् उन-उनका आदर करना नहीं चाहिये, और 'तत्तथा न कार्यम्' अर्थात् उसे उस प्रकार नहीं करना चाहिए, इन दोनों वाक्यों से बहुत सारी विधियों का निषेध भी किया गया है। और ऐतरेय ब्राह्मण में अनुदित (अर्थात् सूर्योदय से पूर्वकाल में किया गया) होम की निन्दा करके 'तस्मादुदिते होतव्यम्' अर्थात् इसलिए उदित (सूर्योदय काल में) होने पर हवन करना चाहिये यह बार-बार कहा है। तैत्तिरीय के अध्येता लोग भी ऐसा ही कहते हैं—'यदनुदिते सूर्ये प्रातर्जुहुयाद् उभयमेवाग्नेयं स्यात्, उदिते सूर्ये प्रातर्जुहोति' (ऐ० ब्रा० ५।५।४) इस प्रकार यहाँ उदित होम की प्रशंसा की है। फिर वे ही लोग उदित होम में दोष देते हुए इस प्रकार कहते हैं—'यदुदिते सूर्ये प्रातर्जुहुयाद् यथाऽतिथये प्रद्रुताय शून्यायावसथायाहार्यं हरन्ति तादृगेव तद्' (तै० ब्रा० २।१।२।१२) अर्थात् जैसे कोई घर आए अतिथि के जाने के समय स्वागत किया जाय उसी प्रकार सूर्योदय होने पर हवन करना है। उसी प्रकार 'अतिरात्रे षोडशिनं गृह्णाति' यह विधिवाक्य 'नातिरात्रे षोडशिनं गृह्णाति' इस निषेध से बाधित होता है। 'स्वर्ग के लिए ज्योतिष्टोम आदि यज्ञों का विधान है। किन्तु उन विहित यज्ञों के अनुष्ठान के बाद स्वर्गादि फल को उपलब्ध होते हुए नहीं देखते। भोजन हो जाने के बाद तृप्ति न प्राप्त हो ऐसा तो नहीं होता। फिर क्यों नहीं ज्योतिष्टोम के अनुष्ठान के बाद स्वर्ग की प्राप्ति हो जाती है, इन युक्तियों से यह सिद्ध है कि कर्मविधियों में प्रामाण्य स्थापित करना सर्वथा दुष्कर है।

पृष्ठ १७ : इसी प्रकार अज्ञातज्ञापक विधियों का भी परस्पर विरोध के कारण प्रामाण्य नहीं हो सकता। जैसा कि ऐतरेय के अध्येता लोग कहते हैं—'आत्मा वा इदमेक एवाग्र असीत्' (ऐ० उ० १।१) और तैत्तिरीय का पाठ करने वाले ठीक इसके विपरीत पाठ करते हैं—'असद् वा इदमग्र आसीत्' ८।७ इस प्रकार का विरोध है। इसलिये वेद का विधिभाग समग्र रूप से अप्रमाण साबित होता है।

उत्तरपक्ष—विधिभाग का प्रामाण्य है।

माना कि जर्त्तिल आदि विधि का प्रामाण्य नहीं है, क्योंकि जर्तिल आदि अर्थ अनुष्ठान के योग्य नहीं हैं। अनुष्ठेय अर्थ का ऊपर के **'अजाक्षीरेण जुहोति'** (तै० सं० ५।४।३।२) इस वाक्य में विधान किया गया है। इस अनुष्ठेय अर्थ की प्रशंसा करने के लिए जर्त्तिलादि को उद्देश्य करके उनकी निन्दा की गई है। जैसे गौ और अश्व की प्रशंसा करने के लिए **'अपशवो वा अन्ये गोअश्वेभ्यः'** (तै० सं० ५।२।९।४) अर्थात् गौ और अश्व को छोड़ जितने हैं वे पशु नहीं हैं, इस वाक्य से अर्थवाद के प्रकार से अज आदि पशुओं के पशुभाव की निन्दा की गई है, उसी प्रकार प्रस्तुत में जर्त्तिलादि की निन्दा करके 'अजाक्षीर' की प्रशंसा की गई है। यदि कोई कहे कि जिस प्रकार निन्दा की जाने पर भी अज आदि पशुओं में पशुभाव वस्तुतः है उसी प्रकार इस प्रसंग में जर्त्तिलादि विधि की निन्दा के होने पर भी किसी शाखान्तर में उसकी प्रशंसा भी हो, तो उसका उत्तर यह है कि जिस शाखान्तर में जर्त्तिलादि विधि की प्रशंसा हो उसका प्रामाण्य भी उस शाखा के अध्ययन करनेवालों के प्रति होगा। जिस प्रकार गृहस्थाश्रम में दूसरे के अन्न का भक्षण निषिद्ध माना गया है, वही दूसरे आश्रमों में प्रामाणिक है उसी प्रकार जर्त्तिलादि विधि के प्रामाण्य को भी समझना चाहिये। इस न्याय से सब जगह परस्पर विरोध वाले विधि-निषेधों की व्यवस्था पुरुष के भेद से बना लेनी चाहिये। शाखाभेद के कारण जिस प्रकार मन्त्रों में पाठभेद व्यवस्थित माना गया है उसी प्रकार पुरुषभेद के कारण विधियों का प्रामाण्य अप्रामाण्य सब व्यवस्थित हैं। तैत्तिरीय लोग **'वायवः स्थोपायवः स्थ'** (तै० सं० १।१।१) ऐसा मन्त्र का पाठ करते हैं, किन्तु वाजसनेयी लोग 'उपायवःस्थ' इस भाग को नहीं कहते (वा० सं० १।१) प्रत्युत शतपथ ब्राह्मण में उस भाग का उद्देश्य करके निराकरण किया गया है, सूत्रवाक मन्त्र में तैत्तिरीय लोग शाखान्तर पाठ करके पाठान्तर का आम्नात करते हैं—वह निराकरण इस प्रकार है **'यद् ब्रूयात् सूपावसाना च स्वध्यवसाना चेति प्रमायुको यजमानः स्यात्'** और पाठान्तर का उपदेश इस प्रकार है **'सूपचरणा च स्वधिचरणा चेत्येव ब्रूयात्'** (तै० सं० २।६।९।६)। इस स्थल पर जिस प्रकार अनुष्ठान करने वाले पुरुष के भेद से व्यवस्था होती है उसी प्रकार विधियों में व्यवस्था कर लेनी चाहिये।

अतिरात्र में षोडशी पात्र की ग्रहण-विधि के निषेध द्वारा बाधित होने की विप्रतिपत्ति जो पहले उपस्थित की है वह मीमांसा शास्त्र से परिचय न रखने वाले आपके लिए ही शोभा देती है पूर्वमीमांसा में दशमाध्याय के अष्टमपाद में षोडशी पात्र के ग्रहण करने और न करने के इस विकल्प का निर्णय किया गया है। द्वितीय अध्याय के प्रथम पाद में कालान्तर में होनेवाले फल की सिद्धि के लिए अपूर्व माना गया है। उसी प्रकार उत्तर मीमांसा में प्रथम अध्याय के चतुर्थपाद में ब्र० सू० १।४।१४ में जगत् के कारणभूत परमात्मा के सम्बन्ध में श्रुतिवाक्यों में जो जो विप्रतिपत्ति उपस्थापित की गई है उसका निराकरण किया है और द्वितीय अध्याय के प्रथमपाद के आरम्भणाधिकरण में (ब्र० सू० २।१।१२) तैत्तिरीय के वाक्य **'असतः सद्जायत'** में जो असत् अर्थात् शून्य से जगत् की उत्पत्ति का निर्देश है उसका समाधान करते हुए कहा है कि असत् का अर्थ 'शून्य' नहीं वल्कि अव्यक्तावस्था समझना चाहिए। सत् का कारण सृष्टि के पूर्व असत् अर्थात् अव्यक्त अवस्था में वर्तमान था,

यह निर्णय किया गया है। उसी प्रकार जैमिनि ने चोदनासूत्र (१।१।२) मे विधिवाक्य के धर्म में प्रमाण होने की प्रतिज्ञा करके औत्पत्तिकसूत्र (१।१।५) में विधिवाक्य के प्रामाण्य का समर्थन किया है। व्यास ने भी शास्त्रयोनित्वसूत्र में उपनिषद वाक्यों के ब्रह्म में तात्पर्य की प्रतिज्ञा करके 'तत्तु समन्वयात्' इत्यादि सूत्रों से उसका समर्थन किया है। जैसा कि पहले स्थाणु के निर्दोष होने की बात हम कह चुके हैं उसी तरह जो मीमांसा शास्त्र से परिचय नहीं रखता वही ऐसा कह सकता है। अन्यथा विधिभाग का प्रामाण्य सन्देहरहित है।

पृष्ठ १८ : महर्षि जैमिनि ने अर्थवाद भाग का प्रामाण्य बहुत प्रयत्न से सिद्ध किया है। इस प्रसङ्ग में जैमिनि के सूत्रों का हम व्याख्यान करेंगे। पहले पूर्वपक्ष के सूत्र हैं

पूर्वपक्ष—अर्थवाद भाग का प्रामाण्य नहीं है।

'आम्नायस्य क्रियार्थत्वादानर्थक्यमतदर्थानां तस्मादनित्यमुच्यते।'

(जै० १।२।१)

आम्नाय अर्थात् वेद समग्र रूप से क्रिया का प्रतिपादन करता है, तात्पर्य यह कि वेद के प्रत्येक वाक्य से कुछ न कुछ शासन किया जाता है, क्रिया की ओर प्रवृत्ति की प्रेरणा हासिल होती है, इस प्रकार समग्र आम्नाय शास्त्र क्रियार्थ है, ऐसी स्थिति में अतदर्थ भूत अर्थवाद अर्थात् वेद का जो अर्थवाद भाग है उसके क्रियार्थ न होने के कारण उसका आनर्थक्य अथवा अप्रामाण्य सिद्ध होता है—अर्थवादों का कोई विवक्षित स्वार्थ नहीं है। वे अर्थवाद इस प्रकार हैं—'सोऽरोदीत् यदरोदीत् तद् रुद्रस्य रुद्रत्वम्' (तै० सं० १।५।१।१) अर्थात् उस रुद्र ने रुदन किया यही उसका रुद्रत्व है; 'स आत्मनो वपामुदखिदत्' (तै० सं० २।१।१।४) अर्थात् (प्रजापति ने) अपनी वपा (हृदयपटलान्तर्वर्ती मांसविशेष) का हवन कर दिया; 'देवा वै देवयजनमध्यवसाय दिशो न प्राजानन्' अर्थात् देवों ने देवयज्ञ सम्पन्न करके दिशाओं को नहीं समझा इत्यादि। इन वाक्यों का कोई विवक्षित अर्थ नहीं है अतः इन्हें नित्य नहीं कहा जा सकता। हमारा इन्हें 'अनित्य' कहने का यह तात्पर्य नहीं कि ये अनादि नहीं हैं, बल्कि ये अर्थवाद वाक्य अनादि होने के कारण स्वरूपतः अनित्य नहीं है, तथापि क्रियार्थ न होने से धर्मविबोधन रूप नित्य कार्य का इनमें अभाव होने के कारण ये वाक्य काव्यालापों के समान ही अप्रमाण ठहरते हैं। समस्त वेद का तात्पर्य धर्म या कर्तव्य के अवबोधन के लिए होता है जो इन वाक्यों में सर्वथा नहीं है।

पृष्ठ १९ : माना कि इन उदाहृत अर्थवादों का प्रामाण्य अनुष्ठेय धर्म के अंश में नहीं है, स्वार्थ के प्रति अर्थात् स्व अर्थ के अवबोधन करने से उनके स्वतः प्रामाण्यका तो अपलाप नहीं किया जा सकता। ऐसी आशंका करके कुछ अन्य अर्थवादों में प्रमाणान्तरों का विरोध देखा जाता है अतः उनके अप्रामाण्य के कारण समग्र अर्थवाद वाक्यों का अप्रामाण्य सिद्ध होता है, इस अभिप्राय से कहते है—

'शास्त्रदृष्टविरोधाच्च' (जै० १।२।२)

अर्थात् शास्त्रविरोध दृष्टविरोध एवं शास्त्रदृष्टविरोध ये तीन प्रकार के विरोध अर्थवादों में उपलब्ध होते हैं। क्रमशः वे इस प्रकार हैं, जैसे 'स्तेनं मनोऽनृतवादिनी वाक्' अर्थात्

मन चोर है और वाणी झूठ बोलने वाली है इसमें मन का चोर होना और वाणी का झूठ होना दोनों प्रतिषेधशास्त्र अर्थात् **'चौर्यं न कर्त्तव्यं'** और **'नानृत्तं वदेत्'** इस प्रकार के प्रतिषेध–शास्त्र से विरुद्ध है, इस प्रकार के अर्थवाद में शास्त्रविरोध अभिलक्षित होता है।

दूसरा दृष्टिविरोध का उदाहरण इस प्रकार है—

'तस्माद् धूम एवाग्नेर्दिवा ददृशे नार्चिस्तस्मादर्चिरेवाग्नेर्नक्तं ददृशे न धूमः' (तै० ब्रा० २।१।२) अर्थात् दिन में अग्नि का धूम ही दिखाई देता है प्रकाश नहीं और रात्रि में प्रकाश ही दिखाई देता है धूम नहीं, इसमें दृष्ट विरोध इस प्रकार है कि दिन में अग्नि का प्रकाश और रात्रि में धूम दोनों दिखाई देते हैं। **'न चैतद् विद्मो वयं ब्राह्मणा वा स्मोऽब्राह्मणा वा** (मै० सं० १।४।११) अर्थात् हमें यह नहीं मालूम है कि हम ब्राह्मण हैं अथवा अब्राह्मण, इस स्थल में भी प्रत्यक्ष का विरोध है, क्योंकि अगर इस तरह की आशंका होने लगे तब व्यवस्थित जातियां विशृङ्खल हो जांय। **'को हि तद् वेद यद्यमुष्मिन् लोकेऽस्ति वा न वा'** (तै० सं० ६।१।१।१) अर्थात् यह कौन जानता है कि इस संसार में है कि नहीं है, यह वचन शास्त्र और दृष्ट दोनों का विरोधी सिद्ध होता है। क्योंकि शास्त्र में **'स्वर्गकामो यजेत'** इस वाक्य से आमुष्मिक फल देखा जाता है। इन विरोधों के कारण अर्थवाद वाक्यों का अप्रमाण्य सिद्ध होता है।

माना कि **'सोऽरोदीत्'** इत्यादि अर्थवाद निष्प्रयोजन या अक्रियार्थ हैं और **'स्तेनं मनः'** इत्यादि विरोध में सिद्ध होते हैं अतः उनका अप्रामाण्य है, किन्तु जो अर्थवाद फलका प्रतिपादन करते हैं वे ऊपर के अक्रियार्थ एवं विरोधी अर्थवादों से विलक्षण होने के कारण प्रमाण के रूप में स्वीकार्य हो सकते हैं। इसका उत्तर देते हैं—

'तथा फलाभावात्' (जै० १।२।३)

जिस प्रकार ऊपर के अर्थवाद मानान्तर विरुद्ध सिद्ध हुए उसी प्रकार दूसरे अर्थवाद उस फल का प्रतिपादन करते है जो विद्यमान नहीं होता। जैसा कि गर्गत्रिरात्र के प्रसङ्ग में यह सुना जाता है **'शोभतेऽस्य मुखं य एवं वेद'** (ता० म० २०।१६।६) अर्थात् जो व्यक्ति इस प्रकार जान लेता है उसका मुख शोभने लगता है। और दूसरा इस प्रकार है **'आस्य प्रजायां वाजी जायते य एवं वेद'** अर्थात् इस यजमान की सन्तति में सब अन्नवान् होते हैं। लेकिन जानने वालों को ऐसा फल प्राप्त नहीं होता। जानने वालों का भी सम्मान के अभाव में तथा द्रव्य के प्राप्त न होने के कारण मुंह चोंचा बना रहता है, शोभा नहीं देता और और यजमान की सन्तति में बहुत गरीब दाने-दाने के लिए तरसने वाले उत्पन्न होते हैं। इस प्रकार फल प्रतिपादक वाक्यों का प्रामाण्य भी सम्भव नहीं।

मान लिया कि ऐहिक फल के प्रतिपादक अर्थवाद आपस में विसंवदित हो जाते हैं किन्तु आमुष्मिक फल के प्रतिपादक वाक्यों का प्रामाण्य तो स्वीकार्य हो सकता है। इसका उत्तर देते हैं—

'अन्यानर्थक्यात्' (जै० १।२।४)

पृष्ठ २० : ऐसा सुना जाता है—**'पूर्णाहुत्या सर्वान् कामान् अवाप्नोति'** (तै० ब्रा० ३।८।१०।५) अर्थात् पूर्णाहुति को सम्पन्न करके (यजमान) समग्र इच्छाओं की पूर्ति कर

लेता है; 'पशुबन्धयाजी सर्वान् लोकानभिजयति' अर्थात् पशुबन्ध यज्ञ करने वाला समस्त लोकों पर विजय प्राप्त कर लेता है; 'तरति मृत्युं तरति पाप्मानं तरति ब्रह्महत्यां योऽश्वमेधेन यजते य उ चैनमेवं वेद' (तै० सं० ५।३।१२।२) अर्थात् जो अश्वमेध से यज्ञ करता है और जो इसे जानता है वह मृत्यु, पाप एवं ब्रह्महत्या से परे हो जाता है। इनमें पहले अर्थवाद में बताया गया है कि पूर्णाहुति से सब कामों की प्राप्ति हो जाती है, जब अग्न्याधेय (अग्निनिष्पादक कर्म) में होने वाली पूर्णाहुति से ही समस्त काम सिद्ध हो जाते हैं तब उत्तरकालीन अग्निहोत्रादि निरर्थक हैं यह सिद्ध होता है। उसी प्रकार प्रसिद्ध पशुबन्ध के अनुष्ठान मात्र से समस्त संसार पर विजय सम्भव है तब ज्योतिष्टोम आदि करने की आवश्यकता नहीं रह जाती, अतः वे भी निरर्थक सिद्ध हो जाते हैं। तीसरे अर्थवाद के अनुसार अध्ययन के अवसर में अश्वमेध का ज्ञान ही जब ब्रह्महत्या से पार कर देता है तब तो व्ययसम्पाद्य अश्वमेध के करने से लाभ क्या? इस प्रकार आनुष्मिक फल प्रतिपादन करने वाले अर्थवाद वाक्यों का प्रामाण्य भी सम्भव नहीं।

मान लिया कि फलवाक्यों का प्रामाण्य नहीं है, तथापि निषेध वाक्यों में किसी प्रकार के प्राप्त न होने से उनका प्रामाण्य तो सम्भव है। इसका उत्तर देते हैं—

'अभागिप्रतिषेधात्' (जै० १।२।५)

अर्थात् ऐसे का भी प्रतिषेध किया गया है जिसका प्रतिषेध प्राप्त नहीं है। जैसे— 'पृथिव्यामग्निश्चेतव्यो नान्तरिक्षे न दिवि' अर्थात् न पृथिवी में न अन्तरिक्ष और द्युलोक में अग्नि का चयन करना चाहिए। इसमें अग्नि के चयन का प्रसंग अन्तरिक्ष और द्युलोक में प्राप्त नहीं है उसका प्रतिषेध किया गया है। कहीं आकाश में भी अग्नि का चयन हो सकता है? ऐसा नितान्त असम्भव का प्रतिषेध करना कोई अर्थ नहीं रखता।

मानते हैं कि निषेधों का भी प्रामाण्य नहीं, किन्तु 'बबरः प्रावाहणिरकामयत' इत्यादि पूर्व पुरुषों का अभिधान करने वाले वाक्यों में किसी प्रकार का विरोध नहीं देखा जाता इसलिए इनका प्रामाण्य तो सम्भव है। इनका उत्तर देते हैं—

'अनित्यसंयोगात्' (जै० १।२।६)

बबर आदि अनित्य अर्थों का संयोग जब है तब सिद्ध है कि बबर से पूर्व इस वाक्य का अभाव था; ऐसी स्थिति में कालिदास आदि के वाक्यों की भांति इन वाक्यों का पौरुषेयत्व प्रसक्त हो जाता है जो सर्वथा अनभिमत है। किं बहुना, यह सर्वथा सिद्ध है कि अर्थवाद वाक्य प्रमाण नहीं है।

सिद्धान्त-पक्ष—अर्थवादों का प्रामाण्य है।

'विधिना त्वेकवाक्यत्वात् स्तुत्यर्थेन विधीनां स्युः' (जै० १।२।७)

सूत्र में प्रयुक्त 'तु' शब्द अर्थवादों का अप्रामाण्य वारण करता है। 'वायुर्वै क्षेपिष्ठा' इत्यादि अर्थवादों की 'वायव्यं श्वेतमालभेत' (तै० सं० २।१।१।१) इत्यादि विधि के साथ एकवाक्यता होने के कारण उन अर्थवादों का प्रामाण्य है। तात्पर्य यह कि अर्थवाद वाक्य एकमात्र विधिवाक्य की प्रशंसा के लिए प्रयुक्त होते हैं। जिस प्रकार विधिवाक्यों का प्रामाण्य सिद्ध है उसी प्रकार प्रवर्तक प्रशंसा-वाक्यों का भी प्रामाण्य है। ऐसी शंका उपस्थित

करना ठीक नहीं कि अर्थवाद से निरपेक्ष होकर विधिवाक्य के पद और अन्वय की सम्पूर्ति हो जाती है, क्योंकि उन अर्थवादों की उपयोगिता इस अंश में है कि वे विधियों की स्तुति करते हैं, विधिवाक्य में आकांक्षा होती है। अर्थवादों के द्वारा स्तुति से प्रलोभित होकर पुरुष विधिवाक्य के निर्दिष्ट अनुष्ठान में प्रवृत्त होते हैं। अतः अर्थवादों की विधिवाक्य से एकवाक्यता उन्हे प्रमाणभूत सिद्ध करती है।

पृष्ठ २१ : शंका होती हैं कि अर्थवाद ऐसे प्रतीत होते हैं मानों वे प्रमाद से पठित हैं, ऐसी स्थिति में विधिवाक्य से उनकी प्रामाणिकता सिद्ध नहीं होती। इसका समाधान यह है—

'तुल्यं च साम्प्रदायिकम्' (जै० १।२।८)

एकवाक्यता के साथ ही विधिवाक्य और अर्थवादों की साम्प्रदायिकता भी दोनों में समान है। साम्प्रदायिक उसे कहते हैं जिसका अध्ययन गुरुपरम्परा से अनध्याय के समय को छोड़कर चला आता है। जिस प्रकार विधिवाक्य साम्प्रदायिक हैं उसी प्रकार अर्थवाद भी साम्प्रदायिक हैं। ऐसी स्थिति में अर्थवादों का प्रमादपाठ सम्भव नहीं।

जो पूर्वपक्ष में 'शास्त्रदृष्टविरोधाच्च' इस सूत्र से अर्थवादों में अनुपपत्ति दी गई थी उसका समाधान यह है—

'अप्राप्ता चानुपपत्तिः प्रयोगे हि विरोधः स्याच्छब्दार्थस्त्वप्रयोगभूतस्तस्मादुपपद्येत' (जै० १।२।९)।

अर्थात् 'स्तेनं मनः' इत्यादि अर्थवाद वाक्य में जो शास्त्र विरोध आदि की अनुपपत्ति दी गई थी उसकी प्राप्ति ही नहीं, क्योंकि जब कि 'स्तेनं मनः' इत्यादि वाक्यों में प्रयोग उक्त रहता तब शास्त्रविरोध की अनुपपत्ति स्वीकार्य होती। यहां 'स्तेयं कर्तव्यम्' इस प्रकार से प्रयोग तो उक्त है नहीं, फिर अनुपपत्ति की प्राप्ति कैसे होगी ? किन्तु यहाँ स्तेय शब्द का अर्थमात्र कहा गया है। अतः शब्दार्थ के कहने मात्र से शास्त्र का विरोध तो होगा नहीं, ऐसी स्थिति में ये अर्थवाद उपपन्न ही होते हैं, अनुपपन्न नहीं हैं।

शंका है कि जो प्रथम सूत्र में 'स्तुत्यर्थेन विधीनां स्युः' यह युक्ति दी है वह ठीक नहीं, क्योंकि अर्थवाद में ऐसा भी देखा जाता है कि विधिवाक्य का अभिधेय कुछ और है और अर्थवाद कुछ और ही की प्रशंसा करते हैं। अतः यह कहना कि अर्थवाद स्तुति करते हैं अतः उनकी उपयोगिता हैं, ठीक नहीं। जैसा कि कहना कि अर्थवाद स्तुति करते हैं अतः उनकी उपयोगिता है, ठीक नहीं। जैसा कि 'वेतसशाखया चावकाभिश्चाग्निं विकर्षति आपो वै शान्ताः' (वेतस शाखा में मण्डूक को शैवाल से बाँध कर विकर्षण करे) (तै० सं० ५।४।४३) इस स्थल में वेतस शाखा और अवका (शैवाल) का विधान है और स्तुति की गई है जलों की। इस आशंका का उत्तर देते हैं—

गुणवादस्तु (जै० १।२।१०)

सूत्र में प्रयुक्त 'तु' शब्द विधि और अर्थवाद वाक्यों में वैयधिकरण्य का वारण करता है। यहां गुणवाद अर्थात् विधिवाक्य की प्रशंसा विवक्षित है। जिस प्रकार लोक में कश्मीर देश का निवासी देवदत्त जब कश्मीर की प्रशंसा सुनाता है तब उसे ऐसा होता है कि उसी

की प्रशंसा की जा रही है, उसी प्रकार यहां भी वेतस और अवका जल से उत्पन्न हैं अतः जल की प्रशंसा होने पर वे स्वयं प्रशंसित होती हैं। शान्त जलों से उत्पन्न होने के कारण वेतस और अवका दोनों शान्त रूप होकर यजमान के अनिष्ट का गमन करती हैं। इस प्रकार यहां गुण का कथन (गुणवाद) अभिप्रेत है।

'सोऽरोदीत्' इस अर्थवाद में रजतदान की निन्दा की गई है। रजत गिरते हुये अश्रु के वर्ण का होता है, उसके दान देने से घर में रोदन का प्रसंग उपस्थित होता है। इस अर्थवाद का **'बर्हिषि रजतं न देयम्'** (तै० सं० १।५।१।२) इस विधि के निषेध से उस अर्थवाद की एकवाक्यता होती है। रजतदान के न होने पर रोदन का अभाव रूप गुण यहां अर्थवाद का विवक्षित है। इस गुण द्वारा रजतदान के निवारण की विधि प्रशंसित होती है। यद्यपि रजत का अश्रु का उत्पादक होना बिलकुल गलत बात है तथापि जैसा कि प्रकार कहा गया है, तदनुसार विधि की स्तुति सम्पन्न होती है।

'यः प्रजाकामः पशुकामः स्यात् स एतं प्राजापत्यमजं तूपरमा लभेत' (तै० सं० २।१।१।४,५) अर्थात् जो व्यक्ति प्रजा या पशु की इच्छा रखता है वह प्राजापत्य तूपर अर्थात् अजातश्रृङ्ग अथवा भग्नश्रृङ्ग अज का आलभन (वध) करे। यह विधिवाक्य है प्रजापति द्वारा वपोत्खेद (हृदयमांस के निकालने) की बात कह कर अर्थवाद ने स्तुति की जब कि प्रजापति ने अपनी वपा को निकाल कर अग्नि में हवन करके उससे उत्पन्न अज का अपने लिए आलभन करके प्रजाओं और पशुओं को प्राप्त किया, इससे तूपर अर्थात् अजातश्रृङ्ग अथवा भग्नश्रृङ्ग अज के गुण का यहां कथन विवक्षित हैं।

पृष्ठ २२ : **'आदित्यः प्रायणीयश्चरुः'** (तै० सं० ६।१।५।१) यह विधि है, और **'दिशं न प्राजानन्'** इस अर्थवाद के द्वारा दिङ्मोह के गुणवाद से उसकी प्रशंसा की गई है। जिस प्रकार अदिति देवता दिङ्मोह को दूर करके दिग्विशेष का ज्ञापन करती है, उस प्रकार बहुत प्रकार के कर्मों के समुदाय रूप सोमयाग में अनुष्ठान-सम्बन्धी भ्रम को वह अदिति देवता दूर करती है। इस प्रकार अदिति देवता का यहां गुणवाद विवक्षित है। प्रजापति अपनी वपा को निकाला हो अथवा नहीं, या देव-यजन मात्र के सम्पन्न करने से दिङ्मोह दूर हो या न हो सर्वथा अर्थवाद वाक्यों को स्तुतिपरक मानने वाले हम लोगों को किसी प्रकार की आपत्ति नहीं। क्योंकि स्तुति मात्र तो असत् और सत् दोनों का सम्भव हो सकता है। **'शिखा ते वर्धते वत्स गुडूचीं श्रद्धया पिब'** इस प्रकार की उक्तियों से लोक में अर्थ के सर्वथा अविद्यमान रहने पर भी स्तुति की जाती है।

जैसा कि पूर्वपक्षी ने शास्त्रविरोध की अनुपपत्ति दिखाने के लिए **'स्तेनं मनोऽनृतवादिनी वाक्'** इस अर्थवाद को उद्धृत किया है—

'रूपात् प्रायात्' (जै० १।२।५१)

'हिरण्यं हस्ते भवति अथ गृभ्णाति' जब ग्रहण करता है तो उसके हाथ में सुवर्ण होता है, इस विधि की प्रशंसा के लिए **'स्तेनं मनः'** यह अर्थवाद है। जिस प्रकार लोक में ऐसा कहा जाता है—'क्या ऋषि को देवदत्त की पूजा करनी चाहिए?' इससे ऋषि का औदासीन्य देवदत्त की पूजा की प्रशंसा करने के लिए प्रकट किया गया है, न कि ऋषि

पूज्यता को हटाना अभिप्रेत है। उसी प्रकार यहां भी हाथ में सुवर्ण के ग्रहण की प्रशंसा करने के उद्देश्य से मन का चोर होना और वाणी का झूठ होना उपन्यस्त है। अर्थात् हाथ में सुवर्ण लेना यह प्रत्यक्ष होने से सर्वथा ठीक है, मन से या वाणी से कुछ सोच लिया या कह दिया वह पक्ष दुर्बल है। इस प्रकार गुणवाद के प्रकार से शब्द और अर्थ की योजना बैठा लेनी चाहिए। प्रस्तुत अर्थवाद में गुणवाद की योजना इस प्रकार की जा सकती है कि जिस प्रकार चोर प्रच्छन्न या छिपे रहते हैं उसी प्रकार मन भी छिपा रहता है यहां गुण है और प्रायः वाणी झूठ ही बोलती है, यह यहां गुण है। किन्तु हाथ न तो मन की भांति प्रच्छन्न हैं और न तो वाणी की भांति प्रायः झूठा है। इस लिए हाथ में हिरण्य धारण की प्रशंसा की गई है।

जैसा कि पूर्वपक्षी ने अर्थवाद में दृष्ट विरोध की अनुपपत्ति देते हुए **'धूम एवाग्नेर्दिवा ददृशे'** इत्यादि को उद्धृत किया है उसका उत्तर देते हैं—

'दूरभूयस्त्वात्' (जै० १।२।१२)

विधि वाक्य हैं—**'अग्निर्ज्योतिर्ज्योतिरग्निः स्वाहेति सायं जुहोति, सूर्यो ज्योतिर्ज्योतिः सूर्यः स्वाहेति प्रातः'** (ऐ० ब्रा० ५।५।६) इन दोनों विधियों की प्रशंसा के लिए वह अर्थवाद वाक्य है। जिस कारण अग्नि की अर्चि या प्रकाश दिन में दिखाई नहीं देता इस कारण सूर्य के मन्त्र का ही प्रातःकाल में प्रयोग करना चाहिए। और जिस कारण रात्रि में अग्नि का प्रकाश दिखाई देता है इस कारण अग्नि के मन्त्र का प्रयोग रात्रि में करना चाहिए। इस प्रकार अर्थवाद के द्वारा दोनों विधियों की स्तुति की है। रात्रि में धूम का न दिखाई देना और अर्चि का दिन में न दिखाई देना अधिक दूर होने के गुण के कारण कहा गया है। सुदूर पर्वत के अग्रभाग पर वृक्ष आदि भी स्पष्ट रूप से दिखाई नहीं देते, तृण के सदृश सिर्फ वे प्रतीत मात्र होते हैं। उसी प्रकार यहां भी समझना चाहिए।

पृष्ठ २३ : अर्थवाद में दृष्ट विरोध को सिद्ध करने के लिए जैसा कि **'न चैतद् विद्मो वयं ब्राह्मणा वा स्मोऽब्राह्मणा वा'** इस वाक्य को उद्धृत किया है, उसका उत्तर देते हैं—

'स्त्र्यपराधात् कर्त्तुश्च पुत्रदर्शनात्' (जै० १।२।१३)

'प्रवरे प्रव्रियमाणे ब्रूयाद् देवाः पितरः' (मै० सं० १।४।११) इस विधि की वह अर्थवाद स्तुति करता है। यदि यजमान 'देवाः पितरः' इत्यादि मन्त्र से प्रवर गोत्र-प्रवर्तक ऋषि को अनुमन्त्रित करे उस समय अब्राह्मण भी ब्राह्मण हो जाता है, इस प्रकार अनुमन्त्रण स्तुति की गई है। 'न चैतद् विद्मः' से इस प्रकार का अज्ञान व्यक्त करना ब्राह्मणत्व के दुर्ज्ञेय होने के गुण के कारण प्रयुक्त है। स्त्री के अपराध के कारण जार या उपपति का भी पुत्र उत्पन्न होता है। ऐसी स्थिति में यह कहना कठिन है कि अपना जन्म कैसा है ? इस अभिप्राय से वह अर्थवाद प्रयुक्त हुआ है, अतः यहाँ दृष्ट विरोध नहीं समझना चाहिए। यह समझना कि जो अपना ब्राह्मणत्व दृश्यमान है उसका इसमें अपलाप किया गया है, भ्रम है।

जो कि शास्त्र और दृष्ट दोनों का विरोध दिखाने के लिए 'को हि तद् वेद यद्यमुष्मिल्लोकेऽस्ति वा न वा' यह अर्थवाद उद्धृत किया है, उसका उत्तर इस सूत्र में देते हैं—

'आकालिकेप्सा' (जै० १।२।१४)

'दिग्वतीकाशान् करोति' यह यज्ञशाला में प्राचीन वांस के द्वार बना लेने के लिए विधि है। उस विधि का यह शेष है—'को हि तद् वेद०' इत्यादि। अर्थात् यज्ञशाला में यज्ञ का धूम भर जाता है एतत्प्रयुक्त ऋत्विजों को कष्ट होता है अतः द्वार का निर्माण कर लेने का विधान है। इससे धूम आदि उपद्रवों के परिहाररूप प्रत्यक्ष फल के द्वारा इस द्वार विधि की स्तुति की गई है। स्वर्गप्राप्ति रूप फल तो आकालिक अर्थात् बहुत बाद में प्राप्त होनेवाला है। आकालिक फल से तात्कालिक फल का महत्त्व अधिक है। आकालिक फल की इच्छा के सिद्ध होने का अनिश्चय इस अर्थवाद में उपन्यस्त है कि कौन जानता है वह (स्वर्ग) इस लोक में है अथवा नहीं। यह कहाँ की समझदारी है कि बहुत बाद में प्राप्त होने वाले वह भी अनिश्चित फल के लिए तत्काल प्रत्यक्ष प्राप्त होने वाले फल की उपेक्षा कर दी जाय? जिस प्रकार यह कहा नहीं जा सकता कि हमारे पौत्र प्रपौत्र कितने होंगे अथवा कोई नहीं होगा, उसी प्रकार इस अर्थवाद में स्वर्ग की प्राप्ति बहुत बाद में होनेवाली है, इस प्रकार गुण योग के द्वारा अनिश्चय का उपन्यास किया गया है। धूम आदि उपद्रव का द्वार-निर्माण से परिहार निश्चित और प्रत्यक्ष लाभ है, यह अभिप्राय यहाँ अभिहित है।

दृष्ट विरोध का जो कि दूसरा उदाहरण कहा है—'शोभतेऽस्य मुखं य एवं वेद' अर्थात् जो इसे जान लेता है उसका मुख शोभने लगता है (ता० म० ब्रा० २०।१६।६) इसका उत्तर देते हैं—

'विद्याप्रशंसा' (जै० १।२।१५)

यह अर्थवाद गर्गत्रिरात्र विधि की स्तुति करता है, अर्थात् उसके विषय में जानकारी मुखशोभा का हेतु सिद्ध होती है तब उसके अनुष्ठान की क्या बात? जिस प्रकार कर्णाभरण आदि के धारण से मुख की शोभा होती है उसी प्रकार जानकार का उत्साह में खिला हुआ मुखमण्डल शिष्य लोग देखते हैं। शोभा गुण के सादृश्य को लेकर प्रस्तुत में अर्थवाद प्रयुक्त है।

जो कि दूसरा विरोध का उदाहरण है 'आस्य प्रजायां वाजी जायते य एवं वेद' यह अर्थवाद भी पूर्वोक्त ज्ञान (वेद) के अनुमन्त्रण विधि का स्तावक है। पहले की भाँति यहां भी 'किमुत' के प्रकार से स्तुति की योजना करनी चाहिये। जानने वाले का पुत्र पिता की शिक्षा से स्वयं विद्वान् हो जाता है, तब प्रतिग्रह के द्वारा अन्न प्राप्त करता है। इस प्रकार गुण के अभिप्राय से 'वाजी जायते' यह कहा है।

पृष्ठ २४ : जो कि दूसरे अग्निहोत्र आदि उत्तरकालीन कर्मों के अनर्थक हो जाने के लिए "पूर्णाहुत्या सर्वान् कामान् अवाप्नोति' यह अर्थवाद उद्धृत किया है उसका उत्तर देते हैं—

'सर्वत्वमाधिकारिकम्' (जै० १।२।१६)

'पूर्णाहुतिं जुहुयात्' इस विधि का वह शेष है। समस्त कामों की प्राप्ति के हेतु के रूप में उस आहुति की प्रशंसा की गई है। जैसा लोक में प्रचलित है 'सब ब्राह्मणों को खिलाओ' इसका यह अर्थ नहीं कि संसार भर के ब्राह्मणों को भोजन कराओ, बल्कि अर्थ है उन सब ब्राह्मणों को खिलाओ जो यहां उपस्थित हैं। इसी प्रकार प्रस्तुत में पूर्णाहुति के द्वारा आधान-रूप कर्म की साङ्गता सिद्ध होने पर उतने मात्र का जो फल सम्भावित है उसी समस्त फल की प्राप्ति यहाँ अभिप्रेत है। पूर्णाहुति के न करने पर आधानरूप कर्म की पूर्णता सम्पन्न होती है, यह पहला काम सिद्ध होता है। पूर्णाहुति के द्वारा आधान कर्म के सम्पन्न होने पर आहवनीय आदि तीन अग्नियां अग्निहोत्र आदि कर्म के योग्य हो जाती हैं। यह दूसरा काम प्राप्त होता है। उन-उन कर्मों से तदनुसार फलों की प्राप्ति होती है। यदि कहो कि इस प्रकार सर्वकामावाप्ति अन्य आहुतियों से भी सिद्ध होती है तो हो हमारे पक्ष में इससे क्या घट जाता है? इससे पूर्णाहुति की जो अर्थवाद ने सर्वकामावाप्ति रूप से स्तुति की है उसमें किसी प्रकार की हानि नहीं होती।

माना कि पूर्णाहुति आधान कर्म का अङ्ग है, उसकी फलश्रुति जिस वाक्य से होती है वह अर्थवाद होने के कारण स्तावक हो सकता है। जैसा कि शास्त्रकार जैमिनि का निर्णय भी है—'द्रव्यसंस्कारकर्मसु परार्थत्वात् फलश्रुतिरर्थवादः' (जै० ४।३।१) अर्थात् द्रव्य में, गुण में और संस्कारकर्मों में फलश्रुति है वह अर्थवाद है। किन्तु पशुबन्ध वाक्य तो कर्म का विधायक है और एकमात्र समस्त लोक पर विजय करना मुख्य फल माना जाता है, अतः उस वाक्य से अन्य कर्मों (ज्योतिष्टोम आदि) का व्यर्थ होना किसी प्रकार वारण नहीं किया जा सकता। इसका उत्तर देते हैं—

'फलस्य कर्मनिष्पत्तेस्तेषां लोकवत् परिणामतः सारतो वा फलविशेषः स्यात्' (जै० १।२।१७)

अर्थात् कर्म की निष्पत्ति या पूर्णता से फल होता है। यहाँ पशुबन्ध कर्म से पृथिवी, अन्तरिक्ष और द्युलोक इन तीनों लोकों में एक पर विजय रूप फल निष्पन्न होता है। पृथिवी आदि फलों का परिमाण एवं सार क्रमशः अन्य कर्मों से सम्पन्न होता है। जिस प्रकार लोक में एक निष्क या रुपया से खारी परिमिति (बराबर चार द्रोण) धातु को खरीद कर दूसरे निष्क से पुनः उतना धान ही खरीद लेने पर धान का परिमाण अधिक हो जाता है। अथवा जैसे एक निष्क (अशर्फी) से वस्त्रमात्र मिलता है और दो निष्क से वस्त्र का सारवान् रूप दुकूल (चादर) मिलता है, वैसे ही दूसरे कर्मों से योग अधिक एवं सार होता है। पशुबन्ध-कर्म के द्वारा पृथिवी पर जिस मात्रा में विजय होगी उससे अधिक एवं विशिष्ट (सार) मात्रा में ज्योतिष्टोम आदि कर्मों से फल की प्राप्ति होती है। ब्रह्महत्या भी यदि केवल मन मात्र से की गई है तो उसका सन्तरण अश्वमेध के ज्ञान मात्र कर लेने से हो जाता है किन्तु उसके कायिक होने पर अश्वमेध कर्म के सम्पन्न करने पर सन्तरण होता है। इस प्रकार अन्य कर्मों का अनर्थक होना सिद्ध नहीं होता।

और जो कि 'नान्तरिक्षे न दिवि' को उद्धृत करके अन्तरिक्ष और द्युलोक में अग्नि-चयन के निषेध को इस अर्थवाद में अप्रसक्त (अप्राप्त) कहकर दोष दिया है और जो 'ववरः प्रावाहणिः' इस अर्थवाद में अनित्य 'ववर' के संयोग का दोष दिया है उसका समाधान करते हैं—

'अन्त्ययोर्यथोक्तम्' (जै० १।२।१८)

पृष्ठ २५ : अर्थात् अन्त में इन दोनों उदाहरणों का उत्तर पहले दे चुके हैं। अन्तरि[क्ष] आदि में चयन की निन्दा के रूप में यह अर्थवाद **'हिरण्यं निधाय चेतव्यम्'** (तै० सं० ५।२।७।१) अर्थात् सुवर्ण को रखकर चयन करना, इस विधि का स्तावक है। इसलि[ए] **'स्तुत्यर्थेन विधीनां स्युः'** के द्वारा इसका उत्तर दे दिया है। जो कि अन्तरिक्ष और द्युलो[क] में अप्राप्त अग्निचयन की निन्दा की गई है, इससे नित्य अर्थात् स्वभावसिद्ध का अनुवा[द] मात्र किया गया है, यह सिद्ध है कि अन्तरिक्ष और द्युलोक में अग्निचयन नहीं होता।

जिस प्रकार अन्तरिक्ष और द्युलोक में अग्निचयन प्रसिद्ध नहीं है, उसी प्रकार हिर[ण्य] सहित भूमि में भी अग्निचयन प्रसिद्ध नहीं है, इस प्रकार हिरण्यसहित भूमि की स्तुति [की] गई है। इसी प्रकार वायु को क्षिप्रगामी देवता कहकर स्वभावसिद्ध के अनुवाद के द्[वारा] पशुविरोध की स्तुति की गई है।

'ववरः प्रावाहणिरकामयत' इस अर्थवाद में भी ववर नाम का कोई अनित्य पु[रुष] विवक्षित नहीं है, किन्तु ववर ध्वनि युक्त एवं प्रकर्ष के साथ (जोर से) वहने वाला [वायु] व्यवहार दशा में नित्य अर्थ रूप से यहां विविक्षित है। इस प्रकार का उत्तर प्रथमपाद [के] अन्तिम अधिकरण में कहा है।

इस प्रकार सम्भावित दोषों के परिहार से अर्थवादों का अप्रामाण्य [सिद्ध] नहीं होता है।

इस प्रकार वेद में विद्यमान मन्त्र विधि और अर्थवाद भागों का अप्रामाण्य किसी हे[तु के] अभाव में सिद्ध नहीं होता, और बोधक होने के कारण उनका स्वतः प्रामाण्य के स्वी[कार] करने से समस्त वेद का प्रामाण्य सिद्ध होता है।

पूर्वपक्ष—वेद पौरुषेय है।

वेद का अप्रामाण्य हम इस लिए मानते हैं कि वह पौरुषेय अर्थात् पुरुषप्रणीत है, [जिस] प्रकार विप्रलम्भक या ठग की वात जैसे अप्रमाण होने के कारण उपेक्षणीय है उसी प्र[कार] वेद भी अप्रमाण एवं उपेक्षणीय है। जैमिनि ने वेद के पौरुषेयत्व को पूर्वपक्ष के रूप में [इस] प्रकार सूत्रबद्ध किया है—

'वेदांश्चैके सन्निकर्षं पुरुषाख्या' (जै० १।१।२७।३२)

कुछेक लोग वेद के प्रति सन्निकर्ष मानते हैं। अर्थात् कालिदास आदि के रघुवं[श] ग्रन्थों की भांति वेद भी कुछ दिन पूर्व निमित हुए हैं। जिस प्रकार रघुवंश आदि आधु[निक] रचनाएं हैं उसी प्रकार वेद भी आधुनिक कृतियां है। वेद अनादि नहीं है, अतः वेद के [कर्ता] के रूप में पुरुषों का निर्देश है। जिस प्रकार **'वैयासिकं भारतम्'** **'वाल्मीकीयं रामाय[णम्]'** इन उक्तियों से यह प्रतीत होता है कि व्यास ने महाभारत की रचना की और वाल्[मीकि]

ने रामायण की इसी प्रकार काठक, कौथुम और तैत्तिरीय के अनुसार कठ आदि उन उन वेद शाखाओं के निर्माता के रूप में कहे गये हैं। इस प्रकार वेद पौरुषेय है यह सिद्ध हुआ।

पृष्ठ २६ : यदि कोई कहे कि वेद तो नित्य ही है, उपाध्याय की भांति विभिन्न सम्प्रदाय के प्रवर्तक के रूप में कठ आदि के नाम उन उन शाखाओ के साथ जुड़ गए है। इसका उत्तर देते हैं—

'अनित्यदर्शानाच्च' (जै० १।१।२८)
जब कि वेद में जनन-मरणशील बबर आदि के नाम सुने जाते है, जैसे **'बबरः प्रावाहणिर-कामयत'** (तै० सं० ७।१।१०।२) **'कुसुरुविन्द औद्दालकिरकामयत'** (तै० सं० ७।२।२।१)। इस प्रकार बबर आदि पुरुषो के पहले वेद का अभाव सिद्ध होने से उनकी अनित्यता सिद्ध होती है। साथ ही अनुमान भी करते हैं कि वेदवाक्य पौरुषेय (पुरुषकर्तृक) है, क्योंकि वह वाक्य है, जिस प्रकार कालिदास आदि के वाक्य पौरुषेय हैं।

सिद्धान्तपक्ष—वेद अपौरुषेय है।

'उक्तं तु शब्दपूर्वत्वम्' (जै० १।१।२९)

सूत्र में प्रयुक्त 'तु' शब्द वेदों की अपौरुषेयता का वारण करता है। आचार्यों ने ही वेदरूप शब्द को अनादि एवं कठ आदि पुरुषों से पूर्व प्राचीन सूत्रों में कहा है। **'औत्पत्तिकस्तु शब्दस्य अर्थेन सम्बन्धः'** (जै० १।५) इस सूत्र में जैमिनि ने 'औत्पत्तिक' शब्द के द्वारा समस्त शब्दों अर्थात् अर्थात् वेदों की एवं उनके अर्थों तथा दोनों के सम्बन्धों की नित्यता की प्रतिज्ञा करके आगे शब्दाधिकरण और वाक्याधिकरण द्वारा इसी विषय का उपपादन किया है। फिर काठक आदि की समस्या का समाधान क्या हो सकता है? इस प्रश्न का सम्प्रदाय के प्रवर्तक रूप में उन्हें स्वीकार कर लेने से समाधान हो जाता है, इसी अभिप्राय को सूत्रबद्ध करते हैं—

'आख्या प्रवचनात् (जै० १।१।३०)

माना कि यह आख्या सम्प्रदाय के प्रवर्तक आचार्यों की ओर संकेतमात्र है, किन्तु बबर आदि अनित्य मनुष्य जो वेद में उल्लिखित पाये जाते हैं उसका क्या समाधान हो सकता है? इसका उत्तर है।

'परं तु श्रुतिसामान्यमात्रम्' (जै० १।१।३१)

अर्थात् बबर आदि शब्दसामान्य मात्र है न कि इस शब्द से कोई पुरुष विवक्षित है। हां, कह सकते हैं कि बबर ध्वनि वाला प्रवहणशील वायु से अभिप्राय है।

शंका है, जैसा वेद में सुनते हैं **'वनस्पतयः सत्रमासत'** अर्थात् वनस्पतियों ने सत्र-यज्ञ किया; **'सर्पाः सत्रमासत'** अर्थात् सर्पों ने सत्र यज्ञ किया। वनस्पति तो अचेतन होने के कारण यज्ञ नहीं कर सकते और सर्प चेतन होने पर विद्यारहित होने के कारण सत्र का अनुष्ठान करने में सर्वथा अक्षम हैं। इस प्रकार **'जरद्गवो गायति मद्रकाणि'** इत्यादि पागल और बालक के वाक्य के सदृश होने से वेद के सम्बन्ध में भी कहा जा सकता है, किसी ऐसे ही ने उसकी रचना की है। इसका उत्तर है—

'कृते चाविनियोगः स्यात् कर्मणः समत्वात्' (जै० १।१।३२)

पृष्ठ २७ : अर्थात् यदि यह मान लिया जाय कि **'ज्योतिष्टोमेन स्वर्गकामो यजेत'** इत्यादि वाक्य किसी पुरुष के द्वारा रचे गये हैं तब इस वाक्य में स्वर्ग के साधन के रूप में ज्योतिष्टोम का विनियोग नहीं होता, क्योंकि स्वर्ग और ज्योतिष्टोम का साध्यसाधनभाव को पुरुष नहीं जान सकता। किन्तु विनियोग साध्यसाधनभाव के रूप में स्पष्ट रूप से सुना जाता है। ऐसी स्थिति में इस वाक्य को उन्मत्त वाक्य सदृश नहीं कह सकते, क्योंकि लौकिक विधिवाक्य की भांति भाव्य, करण और इतिकर्तव्यता रूप तीन अंशों से उपेत भावना उस वाक्य में प्रतीत होती है। लोक में **'ब्राह्मणान् भोजयेत्'** इस विधि वाक्य में तीन प्रकार की आकांक्षा है—क्यों भोजन करावें, किससे भोजन करावें तथा कैसे भोजन करावें इसी को यहाँ किं, केन और कथं इत्याकारक आकांक्षा कहते हैं। तब क्रमशः होता है. तृप्ति के उद्देश्य से भोजन करावें, ओदन से भोजन करावें, और शाक–सूप आदि परोस कर भोजन करावे। इसी प्रकार उक्त ज्योतिष्टोम की विधि में भी ये तीनों आकांक्षाएँ हैं; जैसे स्वर्ग को उद्देश्य करके ज्योतिष्टोम करे, सोम द्रव्य से ज्योतिष्टोम यज्ञ करे और दीक्षणीय आदि अङ्गों सहित ज्योतिष्टोम करे। अब भी कैसे कह सकते हैं कि यह वचन उन्मत्त वाक्य सदृश है। जैसा कि वनस्पतियों द्वारा सत्र करने का उल्लेख है उसे भी उन्मत्त वाक्य के सदृश नहीं कहना चाहिए, क्योंकि ज्योतिष्टोम की भाँति सत्र का कर्म भी त्रिविध आकांक्षाओं से युक्त हैं। जैसा कि न्यायविद् आचार्यों का कहना है—**'यत्परो हि शब्दः स शब्दार्थः'** अर्थात् वही शब्द का अर्थ होता है जिसके उद्देश्य से शब्द कहा जाता है। इसके अनुसार विधायक होने के कारण ज्योतिष्टोम आदि वाक्य का तात्पर्य अनुष्ठान में और वनस्पत्यादि सत्र वाक्य अर्थवाद होने से विधि वाक्य की प्रशंसा में तात्पर्य रखते हैं। प्रशंसा तो ऐसी भी वस्तु से की जा सकती है जो सर्वथा विद्यमान न हो। चेतनारहित वनस्पतियों और ज्ञानरहित सर्पों ने जब सत्र का अनुष्ठान किया तब चेतनावान् और विद्वान् ब्राह्मणों का क्या कहना? सूत्र में निर्दिष्ट चकार ने अनुसार जैसा कि पूर्वपक्ष में वाक्यरूप हेतु देकर जो वेद के पौरुषेयत्व की पुष्टि की गई है उसकी भी उन्हीं युक्तियों से पराहति हो जाती है, ऐसा अर्थ समझना चाहिए। इस प्रकार सिद्ध हुआ कि वेद पौरुषेय नहीं है।

संग्रहार्थ यह है कि वेदवाक्य पौरुषेय है, क्योंकि वेद काठक आदि के नामों एवं कालि-दासादि के वाक्यों की भाँति वाक्य रूप हैं। समाधान है कि काठकादि नाम प्रवचन को लक्ष्य करके कहे गए हैं और वाक्य रूप हेतु भी पराहत हो जाता है, क्योंकि वेद का कोई कर्ता उपलब्ध नहीं होता।

शङ्का होती है कि भगवान् बादरायण में वेद का ब्रह्म का कार्य होना सूत्रबद्ध किया है, जैसा कि सूत्र है—**'शास्त्रयोनित्वात्'** (वे० १।१।३)। इस सूत्र का अर्थ है कि ऋग्वेद आदि शास्त्रों का कारण होने से ब्रह्म सर्वज्ञ है। इसका समाधान करते हुए कहते हैं कि वेद ब्रह्म का कार्य है, किन्तु इतने से वेद का पौरुषेयत्व सिद्ध नहीं होता, क्योंकि आखिर मनुष्य के द्वारा वेद का निर्मित होना तो बादरायण ने नहीं कहा है? इन बादरायण ने ही देवताधिकरण में इस प्रकार के अपौरुषेयत्व के अभिप्राय से आकाश आदि

की भांति वेद का नित्यत्व माना है। सूत्र है—'अत एव च नित्यत्वम्' (वें० सू० १।३।२९)। श्रुति और स्मृति दोनों इसे समर्थन करती हैं। श्रुति है—'वाचा विरूप-नित्यया' (ऋ० ८।७५।६) और स्मृति है—'अनादिनिधना नित्या वागुत्सृष्टा स्वयम्भुवा।' अर्थात् स्वयम्भू भगवान् ने आदि-अन्तरहित और नित्य वाणी का सर्जन किया है। इस प्रकार वेद के कर्ता के होने के दोष की शंका के उदय होने का अब कोई अवसर नहीं रह जाता, अतः मन्त्र और ब्राह्मण रूप वेद का प्रामाण्य निर्विघ्न सिद्ध है।

मंत्र और ब्राह्मण का स्वरूप-निर्णय

पृष्ठ २८ : शंका होती है कि जो वेद का लक्षण 'मंत्र ब्राह्मणात्मकत्वम्' किया गया है वह ठीक नहीं, क्योंकि मन्त्र और ब्राह्मण का स्वरूप निर्णय करना शक्य नहीं। समाधान यह है कि नहीं, दोनों का स्वरूप निर्णय द्वितीयाध्याय के प्रथमपाद में सप्तम और अष्टम अधिकरणों में किया जा चुका है—

सप्तमाधिकरण में आचार्य कहते—'अहे बुध्निय मन्त्रं मे' इत्यादि में मन्त्र शब्द का प्रयोग है, मन्त्र का लक्षण क्या है? तब कहते हैं कि यह लक्षण ठीक नहीं क्योंकि अव्याप्ति आदि दोषों का वारण इसमें नहीं कर सकते। तब कहते हैं कि याज्ञिक लोग जिन वाक्यों को मन्त्र के नाम से व्यवहार करते है (**याज्ञिकानां समाख्यानम्**) वही मंत्र है, यह मन्त्र का लक्षण दोषरहित है। याज्ञिक लोग अनुष्ठान के स्मारक आदि वाक्यों को मन्त्र शब्द से अभिहित कहते हैं अतः 'याज्ञिक समाख्यान' मन्त्रों का अनुगत लक्षण सिद्ध होता है (जै० न्या० मा० २।१।७)।

आधान में ऐसा कहते हैं—'अहे बुध्निय मन्त्रं मे गोपाय' (तै० ब्रा० १।२।१।२६); यदि इसे मंत्र का लक्षण स्वीकार करते हैं तब अव्याप्ति अतिव्याप्ति दोषों का निवारण नहीं हो सकता। यदि कहें कि विहित अर्थ का अभिधान करने वाला मन्त्र होता है—'वसन्ताय कपिञ्जलानालभते' (वा० सं० २४।२०) इस मन्त्र के विधिरूप होने के कारण इस लक्षण की व्याप्ति न होने से अव्याप्ति दोष होता है। यदि 'मननहेतुर्मन्त्रः' ऐसा लक्षण करते हैं, मनन के हेतुरूप ब्राह्मण में भी मन्त्र का लक्षण अतिव्याप्त हो जाता है। यदि कहें कि 'असि' पद जिस में हो वह मन्त्र होता है और उत्तम पुरुष पद जहां अन्त में हो वह मन्त्र होता है तब तो मन्त्र का लक्षण परस्पर अव्याप्त होता है ऐसी स्थिति में समाधान करते हुए मन्त्र का लक्षण करते हैं कि याज्ञिक लोग जिसे 'मन्त्र' के नाम से समाख्यान करें वह मन्त्र है; यह लक्षण अव्याप्ति आदि दोषों से रहित है। वह समाख्यान अनुष्ठान के स्मारक आदि वाक्यों का मन्त्र होना सिद्ध करता है; जैसे 'उरु प्रथस्व' (तै० सं० १।१।८।१) इत्यादि वाक्य अनुष्ठान के स्मारक मन्त्र हैं, 'अग्निमीळे पुरोहितम्' (ऋ० १।१।१) इत्यादि मंत्र स्तुति रूप हैं, 'इषे त्वा' इत्यादि 'त्वा' अन्त वाले मंत्र हैं; 'अग्न आयाहि वीतये' (तै० ब्रा० ३।५।२।१) इत्यादि में आमंत्रण है; 'अग्नीदग्नीन् विहर' (तै० सं० ६।३।१।२) इत्यादि प्रैषरूप मंत्र हैं; 'अधः स्विदासीत् उपरि स्विदासीत्' (ऋ० १०।१२९।५) इत्यादि विचार रूप मंत्र हैं; 'अम्बेऽम्बिके अम्बालिके न मा नयति कश्चन' (तै० सं०

७।४।१९।१) इत्यादि परिदेवन रूप मन्त्र हैं; 'पृच्छामि त्वा परमन्तं पृथिव्याः' (तैं० सं० ७।४।१८।२) इत्यादि प्रश्न रूप मंत्र हैं; 'वेदिमाहुः परमन्तं पृथिव्याः' (तैं० सं० ७।४।१८।२) इत्यादि उत्तर रूप मंत्र हैं। इसी प्रकार अन्य को समझना चाहिए। इस प्रकार के अत्यन्त विजातीय वाक्यों में 'याज्ञिक समाख्यान' के अतिरिक्त दूसरा कोई अनु-गत धर्म नहीं है जिसे मंत्र का लक्षण कहा जाय। प्राचीन आचार्यों ने 'लक्षण' का उपयोग इन शब्दों में माना है—

ऋषयोऽपि पदार्थानां नान्तं यान्ति पृथक्त्वशः।
लक्षणेन तु सिद्धानामन्तं यान्ति विपश्चितः॥

अर्थात् ऋषि लोग भी पृथक्-पृथक् पदार्थों का अनुशीलन करके उनका अन्त नहीं पा... विद्वान् 'लक्षण' के द्वारा सिद्ध पदार्थों का अन्त कर लेते हैं।

पृष्ठ २९ : अतः अभियुक्त लोग जिसे मंत्र कहें वही मंत्र है यह लक्षण सिद्ध हुआ।

आठवें अधिकरण में लिखते हैं—संदेह यह है कि 'एतद् ब्राह्मणान्येव पञ्च हवींषि' यहां कोई 'ब्राह्मण' का लक्षण नहीं है अथवा है। पूर्वपक्ष में कहते हैं कि वेद भागों की इय... का निश्चय नहीं होने के कारण ब्राह्मण के लक्षण में अव्याप्ति-अतिव्याप्ति दोषों का निवा... नहीं सम्भव है।

सिद्धान्त पक्ष में कहते हैं कि वेद के दो भाग हैं—मन्त्र और ब्राह्मण। मन्त्र से अति... जो है वह ब्राह्मण है यही लक्षण निर्धारित हुआ (जै० न्या० मा० २।१।८)।

चातुर्मास्य के प्रसंगों में कहा जाता है—'एतद् ब्राह्मणान्येव पञ्च हवींषि' (तैं० ब्रा० १।७।१।१) यहां ब्राह्मण का लक्षण नहीं है। क्यों का उत्तर यह है कि वेद-काण्डों की इय... का निर्धारण न होने से ब्राह्मण भागों और अन्य भागों में लक्षण के अव्याप्ति-अतिव्याप्ति-दो... के शोधन का सम्भव न होगा। पहले मंत्रभाग कहा जा चुका है। और दूसरे कुछ ... को उदाहरणार्थ पूर्वाचार्यों ने इस प्रकार संगृहीत किया है—

हेतुर्निर्वचनं निन्दा प्रशंसा संशयो विधिः।
परक्रिया पुराकल्पो व्यवधारणकल्पना॥

'तेन ह्यन्नं क्रियते' (श० ब्रा० २।५।२।२३) इसमें हेतुका निर्देश है; 'तद् द... दधित्वम्' (तैं० सं० २।५।३।२) यहां निर्वचन किया गया है; 'अमेध्या वै माषाः' (तैं० सं० ५।१।८।१) इसमें माष (उरद) को अमेध्य कह कर निन्दा की गई है; 'वायुर्वै क्षेपिष्ठा देवता' (तैं० सं० २।१।१।१) इसमें वायु की प्रशंसा है; 'तद्व्यचिकित्सज्जुहवानि माहौषाम्' (तैं० सं० ६।५।९।१) यहां सन्देह है; 'यजमानेन सम्मितौदुम्बरी भव...' (तैं० सं० ६।२।१०।३) यहां विधान है, 'मापानेव मह्य' पचन्ति' यहां परकृति (... कर्तृक आख्यान) है; 'पुरा ब्राह्मणा अभैषुः' (तैं० सं० १।५।७।५) यहां पुराकल्प ... अनेककर्तृक आख्यान हैं; 'यावतोऽश्वान् प्रतिगृह्णीयात् तावतो वारुणांश्चतुष्कपाला... निर्वपेत्' (तैं० सं० २।३।१२।१) यहां व्यवधारणकल्पना अर्थात् 'जितने अश्वों को प्रति... कराएगा, यह अर्थ करते हैं। इसी प्रकार अन्य वाक्यों को देखकर समझ लेना चाहिए।

यह कहें कि निर्दिष्ट हेतु आदि में अन्यतम ब्राह्मण है यह ब्राह्मण का लक्षण है तो मन्त्रों में भी हेतु आदि का सद्भाव देखा जाता है, जैसे—'इन्द्रशो वामुशन्ति हि' (ऋ० १।२।४) यहां हेतु है। 'उदानिपुर्महीरिति तस्मादुदकमुच्यते' (अ० ३।१३।४)।

पृष्ठ ३० : इसमें उदक का निर्वचन किया गया है; 'मोघमन्नं विन्दते अप्रचेता' (ऋ० १०।११७।१६) यहाँ अप्रचेता को निष्फल अन्न की प्राप्ति कहकर निन्दा की गई है; 'अग्निर्मूर्धा दिवः ककुत्' (ऋ० ८।४४।१६) इसमें प्रशंसा है; 'अधःस्विदासीदुपरिस्विदासीत्, (ऋ० १०।१२९।५) यहाँ संशय है; 'वसन्ताय कपिञ्जलानालभते' (वा० सं० २४।२०) यह विधि है; 'सहस्रमयुता ददद्' (ऋ० ८।२१।१८) यहां पर कृति (एक पुरुष की आख्यायिका) है; 'यज्ञेन यज्ञमयजन्त देवाः' (ऋ० १।१६४।५०) यह पुराकल्प या आख्यान है। यह कोई कहे कि 'इति' का बाहुल्य ब्राह्मण में होता है अतः इतिकरण बाहुल्य ब्राह्मण का लक्षण है, तो यह भी ठीक नहीं, क्योंकि 'इत्यददा इत्ययजथा इत्यपच इति ब्राह्मणो गायेत्' (तै० ब्रा० १।९।१४।३) इनमें जो ब्राह्मण के गान के योग्य मन्त्र (श० ब्रा० १३।१।५।६) उद्धृत हैं उसमें इतिकरण की बहुलता के कारण अतिव्याप्ति हो जाती है। यदि कहें कि 'इत्याह' इस वाक्य से जो उपनिबद्ध है वह ब्राह्मण है तो जैसा कि मन्त्र हैं 'राजा चिद् यं भगं भक्षीत्याह' (ऋ० ७।४१।२) और 'यो वा क्षराः शुचिरस्मीत्याह' (ऋ० ७।१०४।१६); इन मन्त्रों में अतिव्याप्ति हो जाती है। यदि ब्राह्मण को आख्यायिकारूप कहते हैं तो यम-यमी-संवाद आदि सूक्तों (ऋ० १०।१०) में अतिव्याप्ति होती है।

पूर्वपक्षी के अनुसार उपर्युक्त कारणों से ब्राह्मण का लक्षण असम्भव सिद्ध होता है ऐसी स्थिति में सिद्धान्त पक्ष से कहते हैं—मन्त्र और ब्राह्मण दो ही वेद का भाग होना स्वीकार होने पर मन्त्र का लक्षण पहले कहा जा चुका है, अतः अवशिष्ट वेद का भाग ब्राह्मण है यह लक्षण होगा। जैमिनि ने दो लक्षणों को इस प्रकार सूत्रबद्ध किया है—

'तच्चोदकेषु मन्त्राख्या' (जै० २।१।३२)

'शेषे ब्राह्मणशब्दः' (जै० २।१।३३)

सम्प्रदायविद् लोग वेद के कुछ विधायक वाक्यों में 'मन्त्र' इस नाम से यह समाख्यान करते हुए कहते हैं कि हम मन्त्रों का स्वाध्याय करते हैं और वे ही लोग मन्त्रव्यतिरिक्त वेद के भागों से ब्राह्मण शब्द का व्यवहार करते हैं यह उक्त सूत्रों का अर्थ है।

शंका होती है कि ब्रह्मयज्ञ के प्रसंग में मन्त्र और ब्राह्मण भागों के अतिरिक्त इतिहास आदि भागों का उल्लेख किया गया है—'यद् ब्राह्मणानीतिहासान् पुराणानि कल्पान् गाथा नाराशंसीः' (तै० आ० २।९)। तब तो वेद के केवल दो भागों की बात नहीं संगत होती। इसका समाधान यह है कि जिस प्रकार ब्राह्मण और परिव्राजक दो भिन्न होते हुए भी परिव्राजक ब्राह्मण के अन्तर्गत ही माना जाता है उसी प्रकार ब्राह्मण आदि अवान्तर भाग इतिहास आदि को पृथक् करके कहा है। 'देवासुराः संयत्ता आसन्' इत्यादि इतिहास है। 'इदं वा अग्रे नैव किञ्चिदासीत्' (तै० ब्रा० २।२।९।१) इत्यादि जगत् की प्रागवस्था से लेकर सृष्टि के प्रतिपादक वाक्यसमूह पुराण कहे जाते हैं। कल्प की चर्चा आरुणकेतुकचयन (अरुण ऋषि द्वारा देखा हुआ चयन) के प्रकरण में की गई है—'इति

मन्त्राः। कल्पोऽत ऊर्ध्वम्—यदि बलिं हरेत्' (तै० आ० १।३।१।२) और अग्निचयन के प्रसंग में 'यमगाथाभिः परिगायति' (तै० सं० ५।१।८।२) इस प्रकार विहित मंत्र विशेष गाथा कहे जाते हैं। मनुष्य के वृत्तान्त प्रतिपादक ऋचाओं को नाराशंसी कहते हैं। इस प्रकार मन्त्र और ब्राह्मण के अतिरिक्त भाग नहीं होते। उन दोनों के स्वरूप के बारे में विचार किया जा चुका। इस प्रकार वेद का मन्त्रब्राह्मणात्मक होना सिद्धान्त स्थिर हो गया।

मन्त्र के अवान्तर भेद

पृष्ठ ३१ : आचार्य ने उसी पाद में मन्त्र के अवान्तर भेदों की चर्चा की है—

'नर्क्सामयजुषां लक्ष्म साङ्कर्यादिति शङ्किते।
पादश्च गीतिः प्रश्लिष्टपाठ इत्यस्त्यसङ्करः'॥

(जै० न्या० २।१।१०)

अर्थात् ऋक्, साम और यजु के भेद से मंत्रों को समझना ठीक है, क्योंकि तीनों परस्पर एक दूसरे में मिले हैं अतः मंत्र के अवान्तर भेद पाद, गीति और प्रश्लिष्ट पाठ के रूप में करना चाहिये, इस प्रकार सांकर्य का दोष नहीं होगा।

यह आम्नात है—'अहे बुध्निय मन्त्रं मे गोपाय यमृषयस्त्रैविदा विदुः' अर्थात् ऋक्, साम और यजु इन तीनों को जाननेवाले अध्येता लोग जिस मन्त्रभाग को ऋक् आदि के रूप से तीन प्रकार का कहते हैं उसे रक्षा करो। इन त्रिविध ऋक्, यजु और साम इस मन्त्रभाग का व्यवस्थित कोई लक्षण नहीं हो सकता क्योंकि उनमें साङ्कर्य दोष का निवारण नहीं हो सकता। अगर लक्षण बनाते हैं कि अध्यापक परम्परा में जो ऋग्वेद आदि रूप में पठित हैं उसे मन्त्र कहते हैं तब तो यह लक्षण संकीर्ण हो जाता है क्योंकि 'देवो वः सवितोत्पुनात्वच्छिद्रेण पवित्रेण वसोः सूर्यस्य रश्मिभिः' (तै० सं० १।१।५।१) यह मन्त्र यजुर्वेद में यजुषों के बीच पठित है। किन्तु इस मन्त्र को यजु नहीं होना चाहिए क्योंकि 'तद्ब्राह्मणे सावित्र्यृच.' (सवितृ देवता की ऋचा) के द्वारा इसे ऋक् रूप में व्यवहृत किया है। 'एतत् साम गायन्नास्ते' (तै० आ० ९।१०।५) यह प्रतिज्ञा करके कुछ साम यजुर्वेद में गाये गए हैं। 'अक्षितमस्यच्युतमसि प्राणसंशितमसि' से तीन यजुष् सामवेद (छा० उप० ६।१७।६) में आम्नात हैं। और गेय होने के कारण साम के आश्रयभूत ऋचाएँ सामवेद में समाम्नात हैं। अतः कोई लक्षण नहीं है ऐसा नहीं कह सकते। पाद आदि तीन अवान्तर भेद की दृष्टि से लक्षण के संकीर्ण होने की सम्भावना नहीं है जैसा कि कहना है—पाद और अर्धर्च से युक्त एवं छन्दोबद्ध मन्त्रों की ऋक्, गीतिरूप मन्त्रों को साम और वृत्त या छन्द तथा गीत दोनों से रहित प्रश्लिष्ट पठित मन्त्रों को यजु कहते हैं। इस प्रकार अवान्तर भेद करने पर कहीं साङ्कर्य की आशंका नहीं रह जाती।

इन तीन प्रकारों को जैमिनि ने तीन सूत्रों में लिखा है—

'तेषामृग् यत्रार्थवशेन पादव्यवस्था' (जै० २।१।३५)
'गीतिषु सामाख्या' (जै० २।१।३६)

शेषे यजुःशब्दः' (जै० २।१।३७)

मन्त्रों के इन्हीं अवान्तर विशेषों को दृष्टि में रखकर ऋग्वेद, यजुर्वेद और सामवेद यह त्रैविध्य सम्पन्न हुआ है।

वेद का स्वाध्याय

पृष्ठ ३२ : उन समस्त वेदों के अथवा किसी एक वेद के अपनी प्रज्ञा के अनुसार उपनीत को अध्ययन करना चाहिए। जैसा कि याज्ञवल्क्य लिखते हैं—

'वेदानधीत्य वेदौ वा वेदं वाऽपि यथाक्रमम्।'

अर्थात् जैसा कि क्रम है तीनों वेदों को, अथवा दो वेदों को अथवा एक वेद को पढ़ कर; एक वेद के अध्ययन के पक्ष में पितृ-पितामहों की परम्परा से प्राप्त ही वेद का अध्ययन करना चाहिए, इसी अभिप्राय से "स्वाध्यायोऽध्येतव्यः" (तै० आ० २।१५) इसमें 'स्व' शब्द का उल्लेख है। वह अध्ययन 'काम्य' नहीं नित्य है। इसीलिए पुरुषार्थानुशासन में सूत्रबद्ध किया है—

'वेदस्याध्ययनं नित्यमनध्ययने पातात्।'

अर्थात् वेद का अध्ययन नित्य है, अतः उसके अध्ययन न करने से पातक होता है। अध्ययन न सम्पन्न करने से उत्पन्न पातक के सम्बन्ध में ऐसा वचन है—'अपहतपाप्मा स्वाध्यायो देवपवित्रं वा एतत्, तं योऽनूत्सृजत्यभागो वाचि भवत्यभागो नाके' (तै० आ० २।१५)। अर्थात् देवपवित्र स्वाध्याय जो सम्पन्न करता है वह पापरहित हो जाता है और जो उसे छोड़ देता है वह वाणी में भाग रहित एवं स्वर्ग के सम्बन्ध से अनधिकारी होता है।

जैसे कि ऋक् है—

'यस्तित्याज सखिविदं सखायं, न तस्य वाच्यपि भागोऽस्ति।
यदीं शृणोत्यलीकं शृणोति नहि प्रवेद सुकृतस्य पन्थाम्॥'
(ऋ० १०।७१।६)

अच्छे मित्र के समान वेद को जिन्होंने त्याग दिया, अर्थात् पढ़ा नहीं, यों ही कहना चाहिए वे उनके वाक्य में भाग्य नहीं, क्योंकि वेद मन्त्र का उच्चारण बड़े भाग्य से होता है। और वह जो कुछ सुनता है झूठा सुनता है तथा वह सुकृत के मार्ग को नहीं जानता।

अतः अपनी परम्परा के अनुसार वेद का स्वाध्याय करना चाहिए। वेद अपना अध्ययन करने वाले पुरुष को उसके प्रयास को समझते हुए सखा की भांति रक्षा करता है। वेद के द्वारा पालन करने का अर्थ यह है कि जो फल बहुत द्रव्य और प्रयास के द्वारा साध्य यज्ञ के अनुष्ठान से प्राप्त होता है उसे अध्येता स्वाध्याय मात्र से सम्पन्न करके प्राप्त कर लेता है। जैसा कि आम्नात है—

'यं यं क्रतुमधीते तेन तेनास्येष्टं भवत्यग्नेर्वायोरादित्यस्य सायुज्यं गच्छति' (तै० आ० २।१५)।

यद्यपि यह ब्रह्मयज्ञ के स्वाध्याय का फल वर्णित है तथापि ज्ञान के लिए अध्ययन के बिना ब्रह्मयज्ञ के सम्भव न होने से यह फल इसलिए भी वर्णित है। जो पुरुष इस प्रकार के वेद रूप सखा को अध्ययन न करके छोड़ देता है उसका भाग्य वाणी में भी नहीं है और स्वर्ग रूप फल में भी उसका भाग्य नहीं हैं। निश्चय और स्पष्ट ही उस व्यक्ति की वाणी में भाग्य का अभाव है जो समस्त देवताओं के धर्म और परब्रह्म तत्त्व के प्रतिपादक वेद का उच्चारण न कर दूसरों की निन्दा, झूठ, कलह आदि के हेतु लौकिक वार्ता का उच्चारण करके यापन करता है। इसी लिए कहा है—

'नानुध्यायाद् बहून् शब्दान् वाचो विग्लापनं हि तत्'
(बृ० उ० ४।४।२१)

तात्पर्य यह कि यद्यपि वह पुरुष काव्य-नाटक आदि सुनता है तथापि उसका श्रवण करना किसी काम का नहीं है, इससे उसे सुकृत मार्ग का ज्ञान नहीं होता।

स्मृति भी कहती है—

'योऽनधीत्य द्विजो वेदानन्यत्र कुरुते श्रमम्।
स जीवन्नेव शूद्रत्वमाशु गच्छति सान्वयः॥' (म०स्मृ० २।१६८)।

अर्थात् जो द्विज वेदों का स्वाध्याय न करके अन्य अन्य निरर्थक विषयों में श्रम करता है वह जीवन में ही अपने वंश के साथ शूद्र हो जाता है।

इसी प्रकार बहुत से अन्य वचन भी इस प्रसङ्ग में उदाहरणीय हैं।

शंका होती है कि वेद अध्ययन करने के पश्चात् 'स्वाध्यायोऽध्येतव्यः' इस अध्ययन विधि के अर्थ का ज्ञान सम्भव है और जब अध्ययन विधि का ज्ञान होगा तभी अध्ययन की ओर प्रवृत्ति होगी, इस प्रकार ज्ञान और प्रवृत्ति दोनों में अन्योन्याश्रय नाम का दोष प्राप्त होता है।

पृष्ठ ३३ : इसका समाधान यह है कि गुरुमत के अनुसरण करने वाले लोग आचार्य के द्वारा किए गए अध्यापन के प्रकार से माणवक के अध्ययन की ओर प्रवृत्ति को बड़े प्रयास से सम्पादन करते हैं और मतान्तर का अनुसरण करने वाले मानते हैं कि अध्ययन के पूर्व ही जिस प्रकार सन्ध्या-वन्दन आदि विधियों का ज्ञान माणवक को हो जाता है उसी प्रकार पिता आदि से माणवक अध्ययन-सम्बन्धी विशेष ज्ञान प्राप्त कर लेता है। यद्यपि अध्यापन विधि के द्वारा माणवक की अध्ययन की ओर प्रवृत्ति हो अथवा स्वविधि अर्थात् सन्ध्या वन्दनादि की भाँति पिता आदि के द्वारा उसकी अध्ययन में प्रवृत्ति हो, तथापि सब प्रकार से उपनीत को चाहिए कि वह वेद का स्वाध्याय करे। पुरुषार्थानुशासन में अध्ययन का दृष्टार्थ एवं अक्षर ग्रहणान्त होना सूत्रबद्ध किया है। उन सूत्रों को उनकी वृत्तियों सहित हम यहाँ उद्धृत करेंगे।

पूर्वपक्ष स्वाध्याय अदृष्ट के लिए है।

'अदृष्टार्थो त्वधीतिर्विहितत्वात्।'

जैसे कोई भी 'तृप्ति के लिए ओदन का भोजन करो' ऐसा विधान नहीं करता, क्योंकि भोजन के साधन ओदन आदि पदार्थ और उसका फल तृप्ति सबको विदित हैं वैसे ही अध्ययन का भी फल ज्ञान और साधन दोनों सबको विदित है, ऐसा होते हुए जब कि अध्ययन का विधान करने की कोई आवश्यकता न थी तब वेद में 'स्वाध्यायोऽध्येतव्यः' इस वाक्य से अध्ययन का जो विधान किया गया है उसका अर्थ यही गृहीत होता है कि वेद का अध्ययन दृष्ट के लिए न होकर अदृष्ट अर्थ के लिए किया जाता है उससे कोई अदृष्ट उत्पन्न होता है। ऐसा कोई कहे कि वह अदृष्ट विशेष कहां श्रुत नहीं है कि मान लिया जाय ! इस पर कहते हैं—

'घृतकुल्याद्यतिदेशः स्वर्गकल्पनं वा।'

ब्रह्मयज्ञजप(१) के अध्ययन के अर्थवाद को प्रस्तुत नित्य अध्ययन की विधि में अतिदेश करके उस प्रसङ्ग में उक्त घृतकुल्या आदि को रात्रिसत्त्रन्याय(२) के अनुसार फल रूप से कल्पित कर लेना चाहिए। और जो अर्थवाद में श्रुत फल का विधि में अतिदेश करना नहीं चाहते उन्हें विश्वजित् न्याय(३) के अनुसार स्वर्ग रूप फल की कल्पना कर लेनी चाहिए। तब शंका होती है कि संस्कार और स्वाध्याय की प्राप्ति रूप फल के अध्ययन द्वारा दृष्ट होने पर अदृष्ट की कल्पना क्यों करते हैं ? इसका उत्तर देते हैं—

'अयुक्ते संस्कारप्राप्ती।'

अर्थात् संस्कार को अध्ययन का फल मानना इसलिए ठीक नहीं कि किसी भी यज्ञ से संस्कृत (संस्कार युक्त) स्वाध्याय का कोई विनियोग नहीं देखते और इसी प्रकार स्वाध्याय की प्राप्ति स्वयं पुरुषार्थ नहीं है अतः ये दोनों अध्ययन विधि के दृष्ट फल नहीं हो सकते, अतः अतिदेश के द्वारा प्राप्त घृतकुल्या आदि अथवा स्वर्ग दोनों अध्ययन विधि के अदृष्ट फल हो सकते हैं।

ऐसा क्यों, स्वाध्याय की प्राप्ति अर्थज्ञान के कारण होने से पुरुषार्थ तो है ही, फिर उसे अपुरुषार्थ कहना कहां तक उचित है ? उत्तर देते हैं कि विष के उतारने (निर्हरण) आदि के लिए जिस प्रकार मन्त्र का विनियोग होता है (और उस मन्त्र में अर्थज्ञान की आवश्यकता नहीं होती) उसी प्रकार अध्ययन विधि के अङ्ग के रूप में ज्योतिष्टोम आदि वाक्यों का विनियोग है अतः उनका अपने अर्थ (स्वार्थ) में प्रामाण्य नहीं हैं अर्थात् जब कि अध्ययन की विधि के अन्तर्गत अङ्ग के रूप में ज्योतिष्टोम आदि वाक्य अर्थज्ञान के उपयोग में नहीं आ सकते, क्योंकि स्वाध्यायमात्र का विधान है न कि तज्जनित अर्थज्ञान का।

---

१. ब्रह्मयज्ञजप-सम्बन्धी अध्ययन का अर्थवाद इस प्रकार हैं—'यदृचोऽधीते पयसः कुल्यास्य पितॄन् स्वधा अभिवहन्ति; यद् यजूंषि घृतस्य कुल्या, यत् सामानि सोम एभ्यः पवते, यदथर्वाङ्गिरसो मधोः कुल्या' (तै० आ० २।१०)

२. रात्रिसत्त्र का फल श्रुत नहीं है, परन्तु उसके स्तावक अर्थवाद में श्रुत होने के कारण प्रत्यासन्न होने से रात्रि सत्त्र का ही फल मान लिया जाता है।

३. 'विश्वजिता यजेत' इस विधि वाक्य का कोई फल श्रुत नहीं है, अतः स्वर्ग रूप फल की कल्पना कर लेते हैं, क्योंकि वह प्रायः लोगों का अभीष्ट होता हैं।

अतः स्वार्थ में ज्योतिष्टोमादि वाक्यों का प्रामाण्य न होने के कारण यह नहीं कह सकं कि अर्थज्ञान, जो पुरुषार्थ रूप है, के कारण होने से स्वाध्याय की प्राप्ति को पुरुषार्थ न माना जा सकता । सूत्र है—

पृष्ठ ३४ : 'अन्याङ्गं नार्थप्रमापकम् ।'

शंका उपस्थित होती है कि जब यह मानते हैं कि अध्ययन विधि के अङ्ग होने कारण ज्योतिष्टोमादि वाक्यों का स्वार्थ में प्रामाण्य नहीं है, तब तो अध्ययन का विधायक वाक्य (जिसके द्वारा अध्ययन का विधान होता है) अपने द्वारा विहित अध्ययन का अङ्ग है, इस वजह से उसका अपने अर्थ में प्रामाण्य सिद्ध होता हैं, फिर ज्योतिष्टोम आ वाक्यों का अपने अर्थ में प्रामाण्य क्यों नहीं ? तब सूत्र में कहते हैं—

'अध्ययनवाक्यमनन्याङ्गम् ।'

अर्थात् अध्ययन वाक्य किसी का अङ्ग नहीं है ।

पुन शंका करते हैं कि यह स्वीकार है कि अध्ययन विधि अदृष्टार्थ है तब 'अध्येतव्य इसमें कर्मवाची तव्य प्रत्यय कर्मकारकभूत स्वाध्याय में किसी प्रकार के फल के अभाव जो विरुद्ध पड़ता है उसका क्या समाधान है ? (कर्मकारक के नियमानुसार क्रिया का फ कर्म पर प्राप्त होता है, अतः प्रस्तुत में तव्य प्रत्यय के प्रयोग के कारण अध्ययन क्रि कर्मभूत स्वाध्याय में कुछ फल (दृष्ट रूप) उत्पन्न होना चाहिये ।' तब कहते हैं—

'सक्तुवत् करणपरिणामः ।'

अर्थात् 'सक्तूञ्जुहोति' अर्थात् सक्तुओं का हवन करे इस स्थल में कर्मका होने के कारण प्रधानभूत सक्तु को उद्देश्य करके होम संस्कार का विधान प्रतीत हो है, जब सक्तु को उद्देश्य करके होम संस्कार का विधान होगा तब तो होम से संस्क हुए भस्मीभूत सक्तुओं का अन्यत्र विनियोग तो सम्भव नहीं, अतः कर्म के प्राधान्य छोड़कर 'सक्तुभिर्जुहोति' यह करणकारक में विपरिणाम कर देते हैं । अभिप्राय यह सक्तुओं का हवन करे इसका अर्थ होगा सक्तुओं को होम से संस्कृत करे । जब सक्तुओं होम-संस्कार होगा तब तो वे राख बन जायेंगे, अर्थात् वे अपने अस्तित्व में नहीं रहें फिर होम से संस्कृत कौन होगा, इसीलिए सक्तु के कर्म प्राधान्य का विपरिणाम कर हैं । उसी प्रकार यहाँ संस्कार भी और प्राप्ति दोनों किसी प्रकार अध्ययन विधि के फ बन नहीं सकते, ऐसी स्थिति में 'स्वाध्यायेन अधीयीत' ऐसा वाक्य बना देंगे ।

सिद्धान्त-पक्ष—अब दृष्टफल के रहते अदृष्ट फल की कल्पना ठीक नहीं, यह सिद्धा प्रस्तुत करते हैं—

'दृष्टे तु नादृष्टम् ।'

तब वह दृष्टफल क्या होना चाहिए ? उत्तर है—

"दृष्टौ प्राप्तिसंस्कारौ ।'

अर्थात् अक्षरप्राप्ति और संस्कार ये दोनों अध्ययन के दृष्टफल हैं । अक्षरप्राप्ति पुरुषार्थता परम्परा से कहते हैं—

'प्राप्त्यार्थबोधः।'

अर्थात् अक्षर को प्राप्त कर लेने (कण्ठ कर लेने) से उनका अर्थबोध भी उत्पन्न होता है और अर्थबोध पुरुषार्थ है। इस प्रकार परम्परा से अक्षर प्राप्ति भी पुरुषार्थ सिद्ध होती है।

यदि कोई शंका करे कि जैसे भोजन के होने से तृप्ति होती है और भोजन के अभाव में तृप्ति नहीं होती, यहाँ इसके अन्वय-व्यतिरेक से सिद्ध होने के कारण कोई विधान नहीं करते, अध्ययन से प्राप्ति और अध्ययन के अभाव में प्राप्ति का अभाव सिद्ध होता है अतः यहां अन्वय-व्यतिरेक है, और इसी से दोनों का कार्यकारणभाव सिद्ध हो जाता है, फिर स्वाध्याय का विधान व्यर्थ हो जाता है। इसका समाधान करते हुए कहते हैं—

'विधिर्निष्पत्त्याः।'

अर्थात् जिस प्रकार अवघात और तुषविमोक के अन्वय-व्यतिरेक से सिद्ध होने पर भी विधान नियमादृष्ट के लिए माना गया है उसी प्रकार प्राप्ति और अध्ययन में किया गया विधान नियमादृष्ट के लिए स्वीकार्य है। अभिप्राय यह कि अध्ययन के द्वारा अक्षर-प्राप्ति का अन्वय-व्यतिरेक भोजन और तृप्ति की भांति स्पष्ट है तथापि यहां विधान करना ही सिद्ध करता है कि अध्ययन के द्वारा नियमादृष्ट बनता है। इस प्रकार अध्ययनविधि की सार्थकता बन जाती है।

पहले जैसा शंका करते हुए कहा है कि संस्कृत स्वाध्याय का कहीं विनियोग नहीं है अतः संस्कार को अध्ययन का दृष्ट फल मनना ठीक नहीं—इसका उत्तर देते हैं—

'संस्कारसिद्धिः क्रत्वध्ययनविधिद्वयोपादानात्।'

अर्थात् क्रतुविधि और अध्ययनविधि दोनों से संस्कार की सिद्ध होती है, क्योंकि क्रतु की विधियां क्रतु (विषय) के बोध की अपेक्षा रखती हैं, और बिना स्वाध्याय के क्रतुओं (विषयों) का ज्ञान नहीं होता, अतः स्वाध्याय को अध्ययन के द्वारा संस्कृत करना आवश्यक हो जाता है। और इसी प्रकार अध्ययन की विधि अवघात की भांति लिखित पाठ आदि को व्यावृत्त करके एकमात्र अध्ययन के द्वारा ही स्वाध्याय का संस्कृत अर्थात् संस्कारयुक्त होना व्यञ्जित करती है। इस प्रकार क्रतुविधि एवं अध्ययनविधि दोनों के द्वारा स्वाध्याय के संस्कार रूप दृष्ट फल की सिद्धि होती है।

शंका करते हैं कि संस्कार तो अदृष्टविशेष को कहते हैं, 'स्वाध्यायोऽध्येतव्यः' इस अध्ययन-विधि में प्रयुक्त 'अध्येतव्यः' पद में 'तव्य' प्रत्यय जैसा कि अध्ययन से उत्पन्न संस्कार को सूचित करता है। इस प्रकार 'अध्येतव्यः' इस पद से श्रुत होने के कारण संस्कार को अध्ययन में मानना चाहिए, नकि स्वाध्याय में, क्योंकि स्वाध्याय (वेद की शाखा) की अपेक्षा अध्ययन ही प्रत्यासन्न है।

पृष्ठ ३९ : उत्तर देते हैं—

'तव्यः कर्मगादृष्टवाची।'

अर्थात् तव्य प्रत्यय कर्मभूत स्वाध्याय में अदृष्ट या संस्कार का वाचक है, क्योंकि कर्मकारक होने के कारण अध्ययन की अपेक्षा तव्य प्रत्यय का प्रत्यासन्न रहने वाला

स्वाध्याय ही है। जिस प्रकार पिता से उत्पन्न होकर भी कन्या दूसरे जन (अपने पति) का अनुरञ्जन करती है उसी प्रकार 'तव्य' प्रत्यय अधिपूर्वक इङ् धातु में होकर भी स्वाध्यायनिष्ठ अपूर्व का वाचक है।

जैसा कि कहा है अध्ययन के अङ्ग के रूप में विनियुक्त ज्योतिष्टोमादि वाक्यों का स्वार्थ में प्रामाण्य नहीं है, ऐसा कहना ठीक नहीं, क्योंकि मन्त्र जब स्वतन्त्रादृष्ट शेष होते तब उनका स्वार्थ में प्रामाण्य नहीं होता। यहाँ तो स्वाध्याय में अदृष्ट उत्पन्न होता है, स्वाध्याय में जो अक्षर गृहीत होते है, उनकी सामर्थ्य से मन्त्रों का अर्थावबोध सा फल सिद्ध होता है, ऐसी स्थिति में दूसरे फल की कल्पना उपयुक्त नहीं होती। अतः प्रस्तुत में अदृष्ट मन्त्रों के स्वार्थ में प्रामाण्य का उपबृंहक ही है, प्रतिबन्धक नहीं, यह गृहीत होता है इस अभिप्राय का सूत्र है—

'स्वतन्त्रादृष्टाशेषत्वान्न स्वार्थप्रमा प्रतिबध्यते।'

पुनः जैसी कि शंका कर चुके हैं, 'सक्तून्जुहोति' की भांति कर्म की प्रधानता को छोड़कर करणकारक में परिणत कर देने से, 'स्वाध्यायेन अधीयीत' रूप निष्पन्न होता है, फिर स्वाध्याय में अदृष्ट उत्पन्न न करके स्वतन्त्र रूप से अध्ययन में अदृष्ट उत्पन्न करता है ऐसी स्थिति में स्वतन्त्र अदृष्ट के शेष होकर ज्योतिष्टोमादि वाक्य अपने अर्थ के प्रामाण्य से रहित हो जाते हैं, फिर स्वाध्याय की अदृष्टार्थता बन जाती है। इसका उत्तर देते हैं—

'यथाश्रुतोपपत्तेर्न सक्तुन्यायः।'

अर्थात् जब कि सक्तुओं के सम्बन्ध में तो कोई गति ही नहीं है, क्योंकि भस्म हो जाने पर उनका अन्यत्र विनियोग तो सम्भव नहीं, अतः वहां श्रुत को छोड़ अश्रुत की कल्पना 'सक्तुभिर्जुहोति' ऐसा करणपरिणाम के द्वारा कर सकते हैं। परन्तु प्रस्तुत में यह ठीक नहीं, क्योंकि हम अध्ययनविधि के दृष्टफल की सिद्धि कर चुके हैं।

इस प्रकार अध्ययन-विधि को दृष्टार्थ सिद्ध करके उसके अक्षर-प्राप्ति के माध्यम से अर्थावबोध तक गमन के निराकरणार्थ पूर्वपक्ष करते हैं—

'वैधमर्थनिर्णयं भट्टगुरू विधेः पुमर्थावसानात्।'

अर्थात् भट्ट (कुमारिल) और गुरु (प्रभाकर) दोनों यह मानते हैं कि प्रस्तुत अध्ययनविधि के द्वारा प्रयुक्त पुरुपार्थभूत फल अर्थनिश्चय होता है, क्योंकि सर्वत्र यह नियम है कि विधि का किसी न किसी पुरुपार्थ में पर्यवसान होता है।

शंका है कि माना कि अध्ययन का फल पुरुषार्थ होना चाहिए, परन्तु देखते हैं कि एक वार या कई एक बार अध्ययन करने पर भी अर्थ का निश्चय नहीं होता, इससे सिद्ध है कि अध्ययन-विधि का फल अर्थ निश्चय नहीं हो सकता—इसका उत्तर देते हुए कहते हैं कि ऐसी स्थिति में जब कि एक बार अथवा कई बार अध्ययन करने पर भी अर्थनिश्चय नहीं होता तब अर्थ निश्चय की सिद्धि के लिए वह अध्ययनविधि अर्थ-निश्चय के हेतुभूत विचार को कल्पित या आक्षिप्त करेगी। सूत्र है—

'स विचारमाक्षिपेत्।'

तब शङ्का होती है कि विधि अपने विधेय और विधेय का उपकार करने वाले की

ही प्रयोजक होती है, ऐसा नियम है, फिर जो विचार न प्रस्तुत अध्ययन विधि का विधेय है और न विधेय का उपकारक ही, ऐसी स्थिति में विधि के द्वारा उसका आक्षेप कैसे होगा ? उत्तर देते हैं—

'अविधेयानुपकार्य क्षेपोऽवघातावृत्तिवत् ।'

अर्थात् जैसे 'व्रीहीनवहन्ति' इस स्थल में अवघातमात्र विधेय है, न कि उसकी आवृत्ति (अर्थात् कई बार अवघात करना विधेय नहीं है), क्योंकि अवघात की आवृत्ति 'अवहन्ति' का अर्थ नहीं है। और यह आवृत्ति विधेय का उपकार करने वाली है, क्योंकि एक बार मुसल के प्रहार से भी अवघात सिद्ध हो जाता है। तथापि जिस प्रकार बिना कई बार अवघात किए चावल की निष्पत्ति रूप फल सिद्ध नहीं होता उसी की सिद्धि के लिए यह विधि अवघात की आवृत्ति का आक्षेप करती है, उसी प्रकार प्रकृत में अध्ययनविधि अर्थनिश्चय की सिद्धि के लिए विचार का आक्षेप कर लेती है।

पुनः शङ्का करते हैं कि केवल वेद का जो व्यक्ति अध्ययन करता है उसे अर्थावबोध नहीं होता, परन्तु जो व्याकरण आदि अङ्गों सहित वेद का अध्ययन करता है उसे अर्थ का अवबोध होता है ऐसी स्थिति में उसके प्रति व्यर्थ हुए विचार का आक्षेप विधि नहीं करेगी। इस आशङ्का का समाधान करते हैं कि व्याकरण आदि अङ्गों द्वारा अवगत अर्थ में विरोध के परिहार के लिए तो विचार उपेक्षित है।

पृष्ठ ३६ : कहते हैं—

'साङ्गाध्ययनात् तद्भावे विचारोऽर्थविरोधापनुत् ।'

अर्थात् साङ्ग अध्ययन द्वारा अर्थावबोध तो हो जायगा, किन्तु अर्थों के परस्पर विरोध का विचार के बिना निवारण नहीं होगा, अतः विचार की अपेक्षा है।

सिद्धान्त पक्ष—अक्षर-प्राप्ति ही पुरुषार्थ है।

'प्राप्तेस्तु गवादिवत् पुमर्थत्वाद् विधिस्तदन्तः ।'

जैसे क्षीर आदि फल की प्राप्ति के लिए पुरुषों के द्वारा गौ आदि हेतु अर्थित होते हैं, वैसे ही फल रूप अर्थावबोध के कारण होने से अक्षर-प्राप्ति भी पुरुषार्थ सिद्ध होती है, अतः अध्ययन विधि को अक्षर-प्राप्ति तक ही स्वीकार करना चाहिए।

शंका करते हैं कि जब फल रूप अर्थावबोध को लेकर ही अक्षर प्राप्ति को यदि पुरुषार्थ मानते हैं तो अर्थबोध के मुख्य पुरुषार्थ होने के कारण अर्थबोध पर्यन्त विधि को स्वीकार क्यों नहीं करते हैं ? उत्तर है—

'फलवद्बोधान्तत्वेऽध्ययनाकार्त्स्न्यम्' ।

अर्थात् यदि फलभूत बोध पर्यन्त अध्ययन विधि को मानते हैं तब अध्ययन समस्त वेद का सिद्ध नहीं हो सकता, क्योंकि बोध का फल कर्मानुष्ठान है, ऐसी स्थिति में जिस ब्राह्मण का अधिकार जिस बृहस्पतिसवादि कर्म के अनुष्ठान करने का होगा वह ब्राह्मण उसी कर्मानुष्ठान के प्रसङ्ग वाले वेद का अध्ययन करेगा, न कि राजसूय आदि के अध्ययन की ओर वह प्रवृत्त होगा। अतः फल को बोध पर्यन्त स्वीकार करने में यह आपत्ति है।

परन्तु अपने पक्ष—अक्षर-प्राप्ति को फल स्वीकार कर लेने में यह आपत्ति नहीं। जैसा कि सूत्र है।

'कृत्स्नप्राप्तिर्जपार्थः।'

अर्थात् जप करने या दुहराने के लिए समस्त वेद की अक्षरप्राप्ति बन जाती है।

जब कि अक्षरप्राप्ति तक ही अध्ययन विधि सीमित हो जाती हैं तब तो अर्थावबोध नहीं बनेगा ऐसी शङ्का नहीं कर सकते क्योंकि स्वभाव से ही प्रमाण प्रमेय का बोधक होता (जो प्रमाण होता है उससे स्वभावतः प्रमेय का बोध होता है) जैसा कि हम देखते लोक में प्रयुक्त होने वाले वाक्य किसी प्रकार की विधि की अपेक्षा के बिना ही अर्थ बोधक हैं, उसी प्रकार वैदिक वाक्य स्वभावतः अपने अर्थ के बोधक हो जायँगे इसके लि अध्ययन-विधि को अर्थावबोधक-परक मानने की कोई आवश्यकता नहीं। यही सूत्र कहते हैं—

'लोकवन्नैजो बोधः।'

अर्थात् लौकिक वाक्य की भांति विधि की अपेक्षा के बिना ही वैदिक वाक्य का अर्थावबो बन जायगा।

शंका होती हैं कि यदि बोध को विधि का फल मान लेते हैं तब बोध की इच्छा रखने वाले को उद्देश्य करके विधान करना बन जाता है और साथ ही अधिका सुलभ हो जाता है, और प्राप्ति के पक्ष में भी प्राप्ति की इच्छा रखने वाला उपनीत आठ वर्ष का ब्राह्मण वेद के अध्ययन का अधिकारी सुलभ है। इसके परिहार को होने के कारण उपेक्षा करके अर्थबोध के काम्य होने में दोष देते हैं—

'सोऽकाम्यः प्राग्बोध्यभानाभानयोः।'

अर्थात् वह अर्थबोध काम्य (इच्छा का विषय) इस लिए नहीं है कि अग्निहोत्र आ वेद के अर्थ के अध्ययन से पहले सन्ध्योपासन आदि के समान पिता आदि के उपदे से ही अर्थबोध का भान (ज्ञान) सिद्ध हो जाता है। इस लिए उसे काम्य मानना ठी नहीं। और जब अर्थबोधके भान का सिद्ध होना नहीं स्वीकार करते हैं तब उसका किसी प्रकार काम्य नहीं बन सकता क्योंकि उसी विषय में कामना (या इच्छा) उत्प होती है जो पहले से ज्ञात होता है। अर्थबोध तो पहले से ज्ञात नहीं है, ऐसी स्थिति में काम्य कैसे हो सकता है।

शंका करते हैं कि सामान्य रूप से ज्ञान करने पर विशेष रूप से ज्ञा करने की इच्छा होती है, अथवा विशेष रूप से पिता आदि के उपदेश द्वारा अवगत हो पर भी उस औपदेशिक ज्ञान के प्रामाण्य का निर्णय करने के लिए पुनः बोध की इच्छ उत्पन्न होगी, इस प्रकार अर्थावबोध के उद्देश्य से अध्ययन का विधान बन जाता है, इसका खण्डन करते हैं—

पृष्ठ ३७ : 'उद्देशायोगात्।'

अर्थात् अर्थावबोध को उद्देश्य करके अध्ययन का विधान बन नहीं सकता। न विशेष आकार की एक बुद्धि के द्वारा अग्निहोत्र आदि विशेष ज्ञानों का उद्देश सम्

नहीं है, क्योंकि विशेष ज्ञानों का अन्त नहीं है। और सामान्य आकार को उद्देश्य करने पर विधि का फल सामान्य ही होगा, ज्ञान विशेष नहीं। अतः अर्थावबोध को उद्देश्य करके अध्ययन का विधान नहीं किया गया है, यह स्वीकार करना चाहिए।

शङ्का है कि अर्थावबोध को उद्देश्य करके उच्चारण जब नहीं मानते तो वेद का अपने अर्थ में तात्पर्य नहीं सिद्ध होगा, क्योंकि किसी न किसी अर्थ को सूचित करने के लिए ही वेद का उच्चारण किया जाता हैं। समाधान करते है कि उपक्रम उपसंहार(१) आदि जो तात्पर्य-निर्णय करने के चिह्न (लिङ्ग) बताए गए हैं उनके द्वारा शब्द के बल से ही वेद का स्वार्थ में तात्पर्य सिद्ध हो जायगा, फिर अर्थावबोध के उद्देश्य से उच्चारण को मानना किसलिए ? सूत्र है—

'तात्पर्यं शब्दात् ।'

शंका करते हैं कि तब तो जैसा कि लोक में अर्थज्ञान के उद्देश्य से शब्द का उच्चारण किया जाता है, वह व्यर्थ होगा ? समाधान है कि नहीं, क्योंकि लोक में इसलिए अर्थज्ञान के उद्देश्य से शब्द का उच्चारण करते हैं कि पुरुष के सम्बन्ध के दोष का परिहार हो सके, किन्तु वेद में पुरुष सम्बन्ध का दोष नहीं है, अतः उच्चारण अर्थावबोध के उद्देश्य से नहीं किया जाता। लौकिक शब्द में पुरुष-सम्बन्धकृत दोष होने के कारण शब्द का उच्चारण अर्थावबोध के उद्देश्य से किया जाता है। इसी अभिप्राय को सूत्र में कहते हैं—

'उद्दिश्य उच्चारणं दोषघ्नं लोके ।'

अर्थात् लोक में अर्थावबोध के उद्देश्य से किया गया शब्द का उच्चारण पुरुषसम्बन्धकृत दोष को हटाता है। पर वेद में ऐसी बात नहीं।

शंका करते हैं कि जब तक अध्ययन-विधि को अर्थावबोध पर्यन्त स्वीकार नहीं करते हैं तब तक विचारक-शास्त्र (मीमांसाशास्त्र) प्रवृत्त नहीं होगा; क्योंकि उसका कोई प्रयोजक नहीं है। उत्तर देते हैं कि—

'विचार उत्तरविधियुक्त उपपद्यते ।'

अर्थात् विचार उत्तर विधियों से उपपन्न हो जायगा। अभिप्राय यह कि (अध्ययनविधि के द्वारा प्रयुक्त होकर) अङ्गों सहित वेद का अध्ययन करने से आपाततः वेदों में प्राप्त हुई यज्ञों के बोध की विधियाँ (जिनमें यज्ञों के जानने का विधान किया गया है) इस लिए क्रतु के विचार का प्रयोजक होंगी, कि विरोध परिहार के द्वारा प्रतिष्ठित निर्णय-ज्ञान के बिना यज्ञों का अनुष्ठान कराने में वे समर्थ नहीं होती हैं। फिर विरोधों के परिहार पूर्वक उन्हें क्रतुविचार को प्रयुक्त करना होगा। 'श्रोतव्यो मन्तव्यः' इत्यादि श्रवणविधि तो साक्षात् रूप से ब्रह्मविचार का विधान करती है। इस प्रकार श्रवणविधि का अपने विधेय ब्रह्मविचार का प्रयोजक होना और क्रतुविधियों का अपने विधेय क्रतुबोध का उपकार करने वाले (क्रतु विचार) का प्रयोजक होना उपपन्न होता है। यदि अध्ययन विधि को विचार (शास्त्र) का प्रयोजक मान लेते हैं तब उस (अध्ययन) विधि का क्रतु (यज्ञ) के द्वारा

१. उपक्रमोपसंहारावभ्यासोऽपूर्वता फलम्। अर्थवादोपपत्ती च लिङ्गं तात्पर्यनिर्णये ॥

स्वर्ग की सिद्धि पर्यन्त होने के कारण क्रतु का अनुष्ठान भी अध्ययन विधि से ही प्र होने लगेगा। फिर क्रतु विधियों के व्यर्थ होने की स्थिति प्राप्त होगी। अतः विचार उत्तर विधियों (क्रतुबोध विधियों) द्वारा प्रयुक्त मान लेना चाहिए न कि अध्ययन विधि द्वा

शंका उपस्थित होती है कि जब अध्ययन विधि तीनों वर्ण ब्राह्मण, क्ष और वैश्य के प्रति नित्य है तो विचार को भी नित्य होना चाहिए। ऐसी स्थि प्रश्न उठता है कि क्रतुविचार को त्रैवर्णिक (तीनों वर्ण) मात्र के प्रति नित्य स्वी करना चाहिए, किं वा ब्रह्मविचार को ? समाधान में कहते हैं कि पहला क्रतुविचार ह मत में भी समान है, अर्थात् हम भी उसे त्रैवर्णिक के प्रति नित्य स्वीकार करते जैसा कि सूत्र है—

'अतो नित्यः क्रतुविचारस्त्रैवर्णिकमात्रस्य।'

अर्थात् त्रैवर्णिक मात्र के प्रति क्रतुविचार इसलिए नित्य है कि इसे न करने क्षर प्रत (विघ्न) होता है। दूसरा ब्रह्मविचार नित्य के रूप में त्रैवर्णिक मात्र के प्रति ह अभिमत नहीं है, क्योंकि जैसा कि सूत्र है—

'ब्रह्मविचारः पुनः परमहंसस्यैव।'

अर्थात् जो परमहंस (हंस की भांति आत्मा-अनात्मा का विवेक रखनेवाला व्यक्ति उसके प्रति ब्रह्मविचार नित्य है।

पृष्ठ ३८ : शंका है कि जब कि इस प्रकार यह सिद्ध हो चुका कि अध्ययन अक्षर तक ही विहित है तब अर्थज्ञान का विधान नहीं किया गया है अतः वह अविहित जायगा ? उत्तर में कहते हैं कि नहीं, दूसरे वाक्य द्वारा उसका विधान है—जैस महाभाष्य के पस्पशाह्निक में अर्थज्ञान की विधि है—'ब्राह्मणेन निष्कारणो धर्मः प वेदोऽध्येयो ज्ञेयश्च'। यहां 'निष्कारण' शब्द के द्वारा अध्ययन और ज्ञान की वि काम्य होने का निवारण किया है।

वेद के अर्थज्ञान की प्रशंसा

'अथापि ज्ञानप्रशंसा भवत्यज्ञाननिन्दा च।
स्थाणुरयं भारहारः किलाभूदधीत्य वेदं न विजानाति योऽर्थम्।
योऽर्थज्ञ इत् सकलं भद्रमश्नुते नाकमेति ज्ञानविधूतपाप्मा॥'
यद् गृहीतमविज्ञातं निगदेनैव शब्द्यते।
अनग्नाविव शुष्कैधो न तज्ज्वलति कर्हिचित्॥ (नि० १।१८)

महर्षि यास्क ने निरुक्त (१।१८) में अर्थज्ञान के प्रति पुरुष को प्रवृत्त करं दो वाक्यों को उद्धृत किया है—

इन दोनों मन्त्रों में 'योऽर्थज्ञ इत्' के द्वारा श्लोकार्ध से वेदार्थ के ज्ञान की प्रशं गई है और इतर तीन श्लोकार्धों द्वारा वेदार्थ ज्ञान के साहित्य की निन्दा की ग प्रशंसा है कि जो वेद के अर्थ का ज्ञान रखता है वह इस लोक में समस्त श्रेय क

-करता है। इस प्रकार जब वेदार्थज्ञान से उसके पाप क्षीण हो जाते हैं तब मर कर वह स्वर्ग में जाता है। इस प्रकार ज्ञान के ऐहिक और आमुष्मिक फल को तैत्तिरीय लोग मन्त्र और उसके तात्पर्य का अभिधान करने वाले ब्राह्मण को उद्धृत करके स्पष्ट करते हैं—

'तदेवाऽभ्युक्ता—'ये अर्वाङुत वा पुराणे वेदं विद्वांसमभितो वदन्त्यादित्यमेव ते परिवदन्ति, सर्वेऽग्निं द्वितीयं तृतीयं च हंसमिति।' 'यावतीर्वै देवतास्ताः सर्वा वेदविदि ब्राह्मणे वसन्ति। तस्माद् ब्राह्मणेभ्यो वेदविद्भ्यो दिवे नमस्कुर्यान्नाश्लीलं कीर्त्तयेदेता एव देवताः प्रीणाति' इति। (तै० आ० २।१५)।

वेद के अर्थ को जानने वाले दो प्रकार के हैं—अर्वाचीन काल में उत्पन्न, चतुर्दश विद्याओं में पारङ्गत कोई उपाध्याय और प्राचीन काल में उत्पन्न व्यास आदि। विद्यामद, धनमद और कुलमद से भरे हुए और अपने आपको पण्डित मानने वाले जो लोग इन दो प्रकार के विद्वानों में सब प्रकार से विद्या आदि के सम्बन्ध में दोष निकालते हैं वे सब लोग पहले सूर्य में दोष देखते हैं और तब सूर्य की अपेक्षा अग्नि में दोष देखते हैं और इन दोनों की अपेक्षा हंस अर्थात् वायु में दोष देखते है। (अभिप्राय यह कि वेद को जानने वाले विद्वान् सूर्य, अग्नि और वायु के समीप पहुँच जाते हैं)।

उनका अग्नि आदि के रूप में होना वेदविद् लोग स्वयं कहते हैं–'अग्नेर्वायोरादित्यस्य सायुज्यं गच्छति' (तै० आ० २।१५)। न केवल ये तीन देवता ही, बल्कि समस्त देवता वेदविद् विद्वानों में निवास करते हैं। अतः वेद को जानने वाले ब्राह्मणों को देख कर अथवा स्मरण करके प्रतिदिन नमस्कार करना चाहिए। उनमें अगर कोई दोष हो तब भी उसे न कहे।

पृष्ठ ३९ : इस प्रकार उन ब्राह्मणों को नमन करने वाला व्यक्ति उन समस्त-देवताओं को सन्तुष्ट करता है जिन्हें वे वेदार्थ को जानने वाले ब्राह्मण उन-उन मन्त्र के अर्थ में स्मरण करके अपने हृदय में अवस्थित करते हैं।

यहाँ यह शङ्का ठीक नहीं कि इस उद्धरण में अध्ययन के ही फल का वर्णन है, क्योंकि 'विद्वांसम्' यह कहा है, तात्पर्य यह कि वेद के अर्थ को जानने वाला विद्वान् ब्राह्मण ही ऐसा फल प्राप्त करता है, अन्यथा अध्ययन के फल के निर्देश के लिए 'विद्वांसम्' के स्थान पर 'वेदमधीयानम्' अर्थात् 'वेद का अध्ययन करते हुए' ऐसा उल्लेख होता। इस लिए सब देवताओं को भावना के द्वारा प्राणियों से पूज्य वह वेदार्थविद् ब्राह्मण दोनों लोकों में श्रेय प्राप्त करता है।

उपर्युक्त उद्धरण का अर्थ करते हैं कि जो वेद का अध्ययन करके भी उसके अर्थ से अपरिचित रहता है वह व्यक्ति स्थाणु की भांति सिर्फ भार वहन करता है। सूखे हुए कटी शाखाओं वाले वृक्षमूल को स्थाणु या ठूंठ कहते हैं। ठूंठ जिस प्रकार सिर्फ इन्धन के उपयोग में ही आता है, न कि उससे फूल-फल का लाभ होता है, उसी प्रकार वेद का केवल पाठ करने वाला व्यक्ति व्रात्य (संस्कारहीन) नहीं हो जाता, लेकिन उसे अनुष्ठान का अधिकार और स्वर्ग आदि फलों की सिद्धि प्राप्त नहीं। जैसी कि लोक में प्रसिद्धि है कि जो केवल वेद का पाठ करता है उसकी धन आदि से पूजा जिस मात्रा में होती है उससे कहीं अधिक मात्रा में वेदार्थ को जानने वाले विद्वान् की होती है।

उपर्युक्त दूसरे उद्धरण का अर्थ है कि आचार्य से गृहीत जिस वेदवाक्य के अर्थज्ञान से रहित होकर पाठ के रूप में वार-बार उच्चारण करते हैं, कभी भी वह उ प्रकार ज्वलित नहीं होता, अर्थात् अपने अर्थ का प्रकाशन नहीं करता, जिस प्रकार अ रहित प्रदेश में पड़ा हुआ सूखा काठ ज्वलित नहीं होता। ऐसी स्थिति में उस अर्थरहि वाक्य का वेदत्व ही मुख्यतः नहीं बनेगा, क्योंकि 'वेद' शब्द का निर्वचन ही है कि—अलौ किक पुरुषार्थ के उपाय को जिससे जाना जाता है उसे वेद कहते हैं। जैसा कि कहा है—

'प्रत्यक्षेणानुमित्या वा यस्तूपायो न बुध्यते।
एतं विदन्ति वेदेन तस्माद् वेदस्य वेदता॥'

अर्थात् जो उपाय प्रत्यक्ष और अनुमान प्रमाणों द्वारा नहीं जाना जा सकता, उसे विद्वा लोग वेद के द्वारा जान जाते हैं, यही वास्तव में वेद का वेदत्व है। अतः मुख्य रूप से वेद की सिद्धि के लिए उसके अर्थ को जानना ही चाहिए।

और भी, निरुक्त में (१।१९) यास्क ने ऋक् उद्धृत की है—

उत त्वः पश्यन् न ददर्श वाचमुत त्वः शृण्वन् न शृणोत्येनाम्।
उतो त्वस्मै तन्वं विसस्रे जायेव पत्य उशती सुवासाः॥
(ऋ० १०।७१।४

इस ऋक् का अर्थ करते हुए यास्क ने स्वयं इसके पूर्वार्ध का तात्पर्य समझाया है। व इस प्रकार है—जो व्यक्ति अर्थ को नहीं जनता, उसके प्रति प्रस्तुत मन्त्र पूर्वार्ध से कह हैं कि एक पुरुष जिसका अध्ययन वेद के पाठ मात्र तक पर्यवसित है वह वेद रूप वाणी देखता हुआ भी सम्यक् प्रकार से नहीं देखता, क्योंकि उसे एकवचन, बहुवचन आदि विवेक न होने के कारण पद-शुद्धि भी करना मुश्किल हो जाती है। उदाहरणार्थ—'वा मेव स्वेन भागधेयेन उपधावति स एव एनं भूतिं गमयति; 'आदित्यानेव स्वे भागधेयेन उपधावन्ति त एव एनं भूतिं गमयन्ति' इत्यादि प्रसंग में जो व्युत्पन्न होगा वह कैसे एकवचन और बहुवचन का पाठ निश्चय कर सकेगा?

पृष्ठ ४० : दूसरा कोई जो अर्थज्ञान के लिए व्याकरण आदि अङ्गों का श्रवण कर चु है, किन्तु मीमांसा अर्थात् विचार शास्त्र के ज्ञान से रहित है, ऐसी स्थिति में वह वेद वाणी को सुनता हुआ भी सम्यक्प्रकार से नहीं सुनता है। उदाहरणार्थ—'यावतोऽश्वा प्रति-गृह्णीयात्तावतो वारुणांश्चतुष्कपालान्निर्वपेद्' इसमें प्रयुक्त 'प्रतिगृह्णीयात' का 'ग्रहण करे' ऐसा नहीं बल्कि 'प्रतिग्रहणकराए' अर्थात् 'दान दे' ऐसा अर्थ मीमांसा निर्णीत है। व्याकरण को जानने वाला यदि मीमांसा को नहीं जानता तब इस प्रकार रहित कैसे हो सकता है? इसलिए दोनों प्रकार के अविद्वान् (व्याकरण और मीमांसा ज्ञान से रहित) व्यक्ति के प्रति ऐसा कहा है।

तृतीय पाद के तात्पर्य को इस प्रकार प्रकट करते हैं—जो व्यक्ति व्याक आदि अङ्गों की सहायता से वेद के पदार्थ के, और मीमांसा या विचार शास्त्र की सहा से वेद के तात्पर्य के शोधन में प्रवृत्त है, उसके सामने वेद अपने शरीर को फैला देता अर्थात् वह वेद के अर्थ-प्रकाशन में समर्थ सम्यक् ज्ञान प्राप्त कर लेता है।

चतुर्थ पाद का तात्पर्य कहते हैं—जिस प्रकार सुन्दर वसन धारण किए हुई और काम भावना वाली अपनी जाया को पति सब प्रकार से आदरपूर्वक देखता है उसी प्रकार चौदह विद्या स्थानों का परिशीलन करने वाला विद्वान् वेदार्थ के रहस्य को सम्यक् प्रकार से देखता है तथा वेद द्वारा उक्त धर्म ब्रह्मरूप अर्थ को हित भावना से स्वीकार करता है। इस प्रकार वेद का ज्ञान रखने वाले पुरुष की प्रशंसा की है।

पुनः दूसरी ऋक् को यास्क ने (नि० १।२०) उद्धृत किया हैं—

> उत त्वं सख्ये स्थिरपीतमाहुर्नैनं हिन्वन्त्यपि वाजिनेषु।
> अधेन्वा चरति माययैष वाचं शुश्रुवाँ अफलामपुष्पाम्॥ (ऋ० १०।७१।५)

पहले जो 'उत त्वः पश्यन्' यह ऋक् उद्धृत की गई है, उसके बाद उद्धृत यह ऋक् पूर्वोक्त मन्त्र का और भी अधिक स्पष्ट रूप से प्रतिपादन करती है।

पृष्ठ ४१ : प्रस्तुत ऋक् का अर्थ यह है—'अभिज्ञ पुरुषों का कहना है कि चौदह विद्या स्थानों में कुशल (व्यक्ति) वेदरूप वाणी से मित्रता करके वेदोक्त अर्थ रूप अमृत का पान करता है। 'सखिविदं सखायम्' इस मन्त्र में वेद सखाभाव का वर्णन है। दूसरे अर्थ के अनुसार स्वर्ग लोक में वह वेदों से मित्रता करके अमृत का अतिशय पान करता है। वाजी अर्थात् वाणी के ईश्वर (वाचामिनाः) अथवा सभाओं में प्रगल्भ पुरुषों के बीच वेदार्थ के कुशल उस विद्वान् को विवाद में अभिभूत नहीं किया जा सकता। दूसरा जो केवल वेद का पाठ करता है वह पुष्प और फल से रहित वाणी को सुनने वाला होता है। यहाँ पूर्वकाण्ड में उक्त धर्म का ज्ञान 'पुष्प' और उत्तर काण्ड में उक्तधर्म के ब्रह्म के ज्ञान को 'फल' कहा है। जिस प्रकार लोक में पुष्प फल को उत्पन्न करता है उसी प्रकार वेदानुवचन आदि धर्म का ज्ञान अनुष्ठान के द्वारा फल रूप ब्रह्मज्ञान की इच्छा को उत्पन्न करता है। जैसा कि कहा है—'तमेतं वेदानुवचनेन ब्राह्मणा विविदिषन्ति यज्ञेन दानेन तपसा नाशकेन' (बृह० उप० ४।४।२२) जिस प्रकार फल तृप्ति का कारण होता है उसी प्रकार ब्रह्मज्ञान कृतकृत्यता का कारण होता है अर्थात् ब्रह्मज्ञान प्राप्त करके पुरुष को कोई करणीय शेष नहीं रहता। प्रमाण है—'यत् पूर्णानन्दैकबोधस्तद् ब्रह्माहमस्मीति कृतकृत्यो भवति' (परमहंसोपनिषत् ४)। अर्थात् जो पूर्ण आनन्द स्वरूप एक ब्रह्मतत्त्व का बोध है वही 'अहं ब्रह्मास्मि' के आकार की कृतकृत्यता है। उस प्रकार के पुष्प और फल से रहित वेद का पाठ करने वाला यह पुरुष अधेनु रूप माया के साथ विचरण करता है। 'धेनु' उस गौ की संज्ञा है जो जल्द ही ब्याई हुई और दुधार होने के कारण प्रीति उत्पन्न करती है। जो वेद का पाठ मात्र करता है उसके प्रति वेदरूप वाणी धर्म और ब्रह्म के ज्ञान रूपी क्षीर को नहीं देती। अतः वेद वाणी रूपी गौ माया अर्थात् ऐन्द्रजालिक द्वारा निर्मित कपट रूप गौ के सदृश ही है। ऐसी मायारचित गौ के साथ विचरण करने वाला वह व्यक्ति पुरुषार्थ को नहीं प्राप्त करता। इस प्रकार यास्क ने वेदार्थ के ज्ञान की स्तुति और अज्ञान की निन्दा के दो उदाहरण देकर उनका तात्पर्य समझाया है। जिसकी स्तुति या प्रशंसा की जाती है उसका विधान भी किया जाता है, (यत् स्तूयते तद् विधीयते) इस न्याय के अनुसार अध्ययन की भांति अर्थज्ञान के विधान को भी स्वीकार करना चाहिये।

और भी, नक्षत्रेष्टि काण्ड में प्रतीष्टि का फल-वाक्य यज्ञ और उसके ज्ञान के सम्बन्ध में समान रूप से आम्नात है—'यथा ह वा अग्निर्देवानामन्नादः, एवं ह वा एप मनुष्याणां भवति य एतेन हविषा यजते य उ चैतदेवं वेद' (तै० ब्रा० ३।१।४।१)। अर्थात् जिस प्रकार अग्नि देवताओं को हविष् देता है उसी प्रकार प्रकार यज्ञ करने वाला अथवा यज्ञ विधियों का ज्ञान रखनेवाला व्यक्ति भी अन्न की उत्पत्ति का कारण होता है, क्योंकि वृष्टि यज्ञ से ही होती है। इस प्रकार ब्राह्मण यज्ञ की भांति फल के लिए अपने अर्थज्ञान का भी विधान करता है। इस प्रकार समस्त ब्राह्मण में अर्थज्ञान का विधान समझना चाहिए।

शङ्का होती है कि जैमिनि ने 'विद्याप्रशंसा' (१।२।१५) इस सूत्र में अर्थज्ञान के फलों का प्रशंसा के रूप में उल्लेख किया है, विद्या अर्थात् अर्थज्ञान की प्रशंसा करने वाले वाक्य स्तावक मात्र होते हैं। वे अर्थज्ञान का विधान नहीं करते हैं। ऐसी स्थिति में अर्थज्ञान अविहित सिद्ध होता है। उत्तर में कहते हैं कि माना कि जैमनि ने 'शोभतेऽस्य मुखं य एवं वेद' आदि वाक्यों में वेदन (विद्या=अर्थज्ञान) की प्रशंसा की है। जैसा कि दर्शयाग और पूर्णमासयाग के प्रसङ्ग में प्रायृश्चित्त रूप वैश्वानरेष्टि का विधान 'दर्शपूर्णमासाभ्यां स्वर्गकामो यजेत्' इस वचन से स्वतःसिद्ध एवं विद्यमान स्वर्ग रूप फल के द्वारा स्तुति करते हैं—'सुवर्गाय हि लोकाय दर्शपूर्णमासाविज्येते' (तै० सं० २।२।५।४)। इस प्रकार मुख-शोभा आदि विद्यमान फलों की दृष्टि से वहां विधि की प्रशंसा की गई है, ऐसा मानना चाहिए। आचार्यों ने विद्या की प्रशंसा करने वाले वाक्य का अपने अर्थ में तात्पर्य वतलाते हुए कहा है—हम यह स्वीकार करते हैं कि जो वात ज्ञान की प्रशंसा के लिए कही गई है वह अर्थवाद है, अर्थात् प्रशंसा-वाक्य है। लेकिन अर्थवाद होते हुए भी यथास्थित अर्थात् यथार्थ फल का अभिधान करता है अतः यह सर्वथा भूतार्थवाद है (गुणवाद नहीं) जिस प्रकार 'सुवर्गाय हि लोकाय दर्शपूर्णमासाविज्येते' यह अर्थवाद यथार्थ फल का अभिधान करता है उसी प्रकार विद्या के प्रशंसा-वाक्य को समझना चाहिये। जो कि 'पापश्लोक' वाला श्रुति 'यस्य पर्णमयी जुहूर्भवति न स पापं श्लोकं शृणोति' असत्य अर्थ का अभिधान करती हैं उस प्रकार प्रस्तुत में नहीं समझना चाहिये। जो पूर्णमयी जुहू से हवन करता है वह भी अयश (पापश्लोक) को प्राप्त करता है यह प्रत्यक्ष देखा जाता है, अतः इसके असत्यार्थवाद होने में सन्देह नहीं।

पृष्ठ ४२ : यह शंका ठीक नहीं कि जब कि अर्थज्ञान मात्र से फल की सिद्धि हो जाती है तव कष्टसाध्य अनुष्ठान व्यर्थ ठहरता है। इस शंका का समाधान फल के अधिक होने का उल्लेख करके हम दे चुके हैं और उस प्रसंग में हमने जैमिनि के इस सूत्र का भी उल्लेख किया है—

'फलस्य कर्मनिष्पत्तेस्तेषां लोकवत् परिणामतः सारतो वा फलविशेषः स्यात्' (जै० १।२।१७)।

और 'तरति ब्रह्महत्यां योऽश्वमेधेन यजते य उ चैनमेवं वेद' (तै० सं० ५।३।१२।२) की उदाहरण के रूप में व्याख्या की है।

छान्दोग्य उपनिषद् के अध्येता लोग कहते हैं कि केवल अनुष्ठान से जो फल होता है उससे अधिक फल विद्यासहित (अर्थात् अर्थज्ञान से युक्त) अनुष्ठान से होता है—**तेनोभौ कुरुतो यश्चैतदेवं वेद यश्च न वेद। नाना तु विद्या चाविद्या च। यदेव विद्यया करोति श्रद्धयोपनिषदा तदेव वीर्यवत्तरं भवति'** (छा० उप० १।१।१०) अर्थात् दो प्रकार के लोग जिन्हें वेद का ज्ञान है और जिन्हें नहीं है, यज्ञ का अनुष्ठान करते हैं। विद्या और अविद्या नाना प्रकार की हैं। जो अनुष्ठान विद्या से अर्थज्ञानपूर्वक श्रद्धा एवं तत्त्वज्ञानपूर्वक किया जाता है वह वीर्यवत्तर (अर्थात् अधिक बल वाला) होता है। यद्यपि यहां 'विद्या' शब्द के द्वारा वेद के अङ्गों के ज्ञान की उपासना विवक्षित है तथापि तात्पर्य समग्र विद्याओं के पक्ष में बराबर है।

यदि पूर्वपक्षी कहे कि इस प्रकार वेदार्थ के ज्ञान में आपकी इतनी भक्ति, कैसे उमड़ पड़ी कि तर्क पर तर्क युक्ति पर युक्ति दिए जारहे है ? तब उत्तर में उसी से यह प्रश्न हो सकता है क्यों उसका वेदार्थज्ञान के सम्बन्ध में द्वेष है कि शंकाएं किए जा रहा है ? क्योंकि हमने तो ज्ञान की प्रशंसा के अनेक उदाहरण दिए और कहीं हमें उसकी निन्दा उपलब्ध नहीं हुई है। जिस प्रकार कर्म या अनुष्ठान से पैदा हुआ अपूर्व मरने के बाद जीव के शरीर के साथ जाता है, उसी प्रकार विद्या अर्थात् वेद के अर्थज्ञान से उत्पन्न अपूर्व या संस्कार भी जीव के साथ ऊर्ध्व लोक में जाता है। जैसा कि वाजसनेयी लोग कहते हैं—**'तं विद्याकर्मणी समन्वारभेते पूर्वप्रज्ञा च'** (श० ब्रा० १४।७।२।३ बृह० उप० ४।४।२)। इससे सिद्ध हुआ कि अध्ययन की भांति अर्थज्ञान का भी वेद में विधान है, वह अविहित नहीं। अतः अर्थज्ञान के लिए वेद की व्याख्या होनी चाहिये।

वेद का अनुबन्ध-चतुष्टय

जब तक श्रोता को प्रस्तुत व्याख्यान के विषय, प्रयोजन, सम्बन्ध और अधिकारी इन अनुबन्ध-चतुष्टय का ज्ञान न होगा तब तक वह प्रवृत्त नहीं होगा, अतः अब व्याख्यान के विषय आदि का निरूपण करते हैं—व्याख्येय वेद प्रस्तुत व्याख्यान का विषय है, वेद का अर्थज्ञान प्रयोजन है वेद और उसके व्याख्यान में व्याख्यान-व्याख्येयभाव सम्बन्ध है और वेद के अर्थज्ञान की इच्छा रखने वाला व्यक्ति प्रस्तुत व्याख्यान का अधिकारी है। यद्यपि व्याख्यान के विषय आदि प्रसिद्ध हैं तथापि यदि वेद के विषय आदि जब सिद्ध नहीं होते तब व्याख्यान के विषय आदि भी सम्भव नहीं, अतः वेद के भी अनुबन्धचतुष्टय का निर्देश करते हैं।

वेद के पूर्वकाण्ड में धर्मविषय है और उत्तर काण्ड में ब्रह्म, क्योंकि दोनों अनन्यलभ्य अर्थात् वेद के अतिरिक्त प्रकार से लभ्य (ज्ञेय) नहीं। जैसा कि पुरुषार्थानुशासन में सूत्र है **धर्मब्रह्मणी वेदैकवेद्ये'** अर्थात् धर्म और ब्रह्म को एकमात्र वेद से ही जाना जा सकता है। जैमिनि के दूसरे सूत्र में **'चोदनैव धर्मे प्रमाणम्' 'चोदना प्रमाणमेव'** ये दो नियम सम्प्रदायविद् लोग कहते हैं। **'चोदनैव'** इस अर्थ का उपपादन करते हुए चतुर्थ सूत्र में धर्म का प्रत्यक्ष प्रमाण का विषय होना निराकरण किया गया है—**प्रत्यक्षमनिमित्तं विद्य-**

मानोपलम्भनत्वात्' (जै० १।१।४) अर्थात् प्रत्यक्ष प्रमाण उसी वस्तु का उपलम्भ करता है जो विद्यमान हो, अविद्यमान धर्म के सम्बन्ध में निमित्त या प्रमाण नहीं हैं।

पृष्ठ ४३ : धर्म अविद्यमान इसलिए है कि वह अनुष्ठानके बाद उत्पन्न होता है, पहले नहीं रहता है, अतः घटादि की भांति प्रत्यक्षयोग्य नहीं होता। और बाद में भी रूपरहित होने के कारण इन्द्रियों द्वारा प्रत्यक्ष नहीं होता। इसीलिए सब लोग धर्म को अ कहते हैं। किसी प्रकार के लिङ्ग या हेतु के न होने के कारण धर्म अनुमान प्रमाण का विषय नहीं हो सकता। यदि कहें कि सुख और दुःख धर्म ज्ञापक हेतु हैं। जहां सुख है है वहाँ धर्म होता है और जहां दुःख होता है वहां धर्म नहीं होता। ऐसी स्थिति में धर्म अनुमान प्रमाण का विषय होना चाहिए। उत्तर में कहते हैं कि मानते हैं, तब भी और सुख-दुःख का लिङ्गलिङ्गिभाव वेद के द्वारा ही मालूम होता है। अतः चोदना अ वेदविहित विधान ही धर्म में प्रमाण हैं।

महर्षि व्यासप्रणीत तृतीय सूत्र के द्वितीय वर्णक में ब्रह्म के सिद्ध वस्तु होने पर भाष्यकारों ने उसे शास्त्र का एकमात्र विषय कह कर व्याख्यान किया है। अभिप्राय यह शास्त्र के प्रमाण से जगत् के जन्म-स्थिति आदि का कारण ब्रह्म ही माना जाता है। श्रुति भी है—'नावेदविन्मनुते तं बृहन्तम्' (तै० ब्रा० ३।१२।९।७) अर्थात् वेद ज्ञान न रखने वाला व्यक्ति उस बृहत् ब्रह्म-तत्त्व को नहीं जानता। प्राचीन आचार्य इसकी उत्पत्ति भी देते हुए कहा है कि ब्रह्मतत्त्व रूप, लिङ्ग आदि से रहित होने के का वेद से अतिरिक्त प्रमाणों का विषय नहीं है। इससे यह सिद्ध हुआ कि अन्य प्रमाणों लभ्य न होने के कारण धर्म और ब्रह्म दोनों एकमात्र वेद के विषय हैं।

उन दोनों का ज्ञान वेद का साक्षात् प्रयोजन है। धर्म और ब्रह्म के ज्ञान को 'सप्तद्वी वसुमती' और 'राजाऽसौ गच्छति' के ज्ञान की भांति अपुरुषार्थ में पर्यवसित मान ठीक नहीं; क्योंकि धर्म के द्वारा पुरुषार्थ के होने की स्तुति की है—'धर्मो विश्वस्य जग प्रतिष्ठा, लोके धर्मिष्ठं प्रजा उपसर्पन्ति, धर्मेण पापमपनुदन्ति, धर्मे सर्वं प्रतिष्ठित तस्माद् धर्मं परमं वदन्ति' (तै० आ० १०।६३।७) अर्थात् धर्म सारे संसार की प्र अर्थात् एकमात्र आश्रयभूत है, संसार में लोग उसी के पास जाते हैं जो धर्मशील होता लोग धर्म द्वारा अपने किए पाप को हटाते हैं, धर्म पर सब कुछ आधारित है, अतः धर्म सबसे बड़ा कहते हैं। राजा की सहायता से जिस प्रकार दुर्बल भी विजय प्राप्त कर लेत उसी प्रकार धर्म भी विजयप्राप्ति के हेतु होने से पुरुषार्थ है। जैसा कि वाजसनेयी लोग प्रकरण में कहते हैं—तच्छ्रेयो रूपमत्यसृजत धर्मं, तदेतत् क्षत्रस्य क्षत्रं यद् धर्म स्माद् धर्मात् परं नास्ति। अथो बलीयान् बलीयांसमाशंसते धर्मेण, यथा राज्ञै (बृह० उप० १।४।१४) अर्थात् अतः कल्याण रूप में धर्म की सृष्टि है, क्षत्रिय का क्षत्रि ही धर्म है, इसलिए धर्म से बढ़ कर दूसरा कुछ नहीं। एक बलवान् दूसरे बलवान् की प्र धर्म के द्वारा करता है, जैसे राजा प्रशंसा करता है। अब ब्रह्मज्ञान को पुरुषार्थ सिद्ध करने लिए श्रुतिप्रमाण उद्धृत करते हैं—'ब्रह्मविदाप्नोति परम्' (तै० आ० ८।१), अर्थात् को जानने वाला परमतत्त्व (मोक्ष) को पा लेता है; 'ब्रह्म वेद ब्रह्मैव भवति' (मुं

३।२।९) अर्थात् ब्रह्म को जानता है और ब्रह्म ही हो जाता हैं; 'तरति शोकमात्मवित्' (छा० उप० ७।१।३) अर्थात् आत्मज्ञानी पुरुष शोक का सन्तरण कर जाता है। इस प्रकार इन श्रुतियों के प्रमाण से ब्रह्मज्ञान के द्वारा मोक्ष रूप पुरुषार्थ की सिद्धि अभिहित है। इस प्रकार धर्म और ब्रह्म दोनों के ज्ञान की इच्छा रखने वाला व्यक्ति वेद में अधिकारी होता है। वह त्रैवर्णिक अर्थात् तीन ही वर्णों में से कोई एक वर्ण का हो सकता है। स्त्री और शूद्र को धर्म और ब्रह्म के ज्ञान की अपेक्षा होने पर भी उनके उपनयन संस्कार के विहित न होने से वेद का अध्ययन नहीं बनता, अतः उनका वेद में अधिकार नहीं माना गया है। उन्हें धर्म और ब्रह्म का ज्ञान पुराण आदि के मार्ग से सम्भव हो सकता है, अतः त्रैवर्णिक पुरुषों का ही वेद के द्वारा अर्थज्ञान में अधिकार है।

धर्म और ब्रह्म के साथ वेद का सम्बन्ध प्रतिपाद्य-प्रतिपादक भाव है, अर्थात् वेद प्रतिपादक है और धर्म और ब्रह्म उसके प्रतिपाद्य विषय हैं और धर्म तथा ब्रह्म के ज्ञान के साथ वेद का जन्य जनकभाव सम्बन्ध है, अर्थात् वेद जनक है और धर्म तथा ब्रह्म का ज्ञान जन्य है। त्रैवर्णिक पुरुषों के साथ वेद का उपकार्योपकारकभाव सम्बन्ध है, अर्थात् वेद उपकारक है और त्रैवर्णिक पुरुष उसके उपकार्य हैं। इसी प्रकार श्रोता लोग वेद के विषय आदि अनुबन्ध चतुष्टय को जान कर बुद्धि को समाहित करके प्रस्तुत वेद के व्याख्यान में प्रवृत्त हों।

वेद के छह अङ्ग

पृष्ठ ४४ : वेद बहुत ही गम्भीर शास्त्र है उसके अर्थज्ञान के लिए शिक्षा आदि छह अङ्गों की प्रवृत्ति है। आथर्वणिक लोगों ने मुण्डकोपनिषद् में उन्हें अपर विद्या का रूप कहा— 'द्वे विद्ये वेदितव्ये इति ह स्म यद् ब्रह्मविदो वदन्ति, परा चैवापरा च। तत्रापरा ऋग्वेदो यजुर्वेदः सामवेदोऽथर्ववेदः, शिक्षा कल्पो व्याकरणं निरुक्तं छन्दो ज्योतिषमिति। अथ परा यया तदक्षरमधिगम्यते' (मुण्ड० १।१।४) साधनभूत धर्म के ज्ञान के हेतु होनेसे छह अङ्गों सहित कर्मकाण्डों को अपरविद्या माना है और परमपुरुषार्थभूत ब्रह्म के ज्ञान के हेतु (उपाय) होने से उपनिषदों को परविद्या रूप माना है।

शिक्षा का प्रयोजन

जिस ग्रन्थ में वर्ण, स्वर आदि के उच्चारण करने का प्रकार (तरीका) सिखाया जाता है उसे 'शिक्षा' कहते हैं। जैसा कि तैत्तिरीय लोग उपनिषद् के आरम्भ में कहते हैं—'शिक्षां व्याख्यास्यामः। वर्णः, स्वरः, मात्रा, बलं, साम, सन्तान इत्युक्तः शिक्षाध्यायः' (तै० आ० ७।२)।

अकार आदि वर्ण होते हैं। वर्ण को प्रस्तुत शास्त्र के अङ्गभूत शिक्षा ग्रन्थ में स्पष्ट कहा है—

'त्रिषष्टिश्चतुःषष्टिर्वा वर्णाः शम्भुमते मताः।
प्राकृते संस्कृते चापि स्वयं प्रोक्ताः स्वयम्भुवा॥ (पा० शि० ३)।

अर्थात् भगवान् शम्भु के मत में तिरसठ अथवा चौसठ वर्ण हैं। स्वयम्भू ने उन्हें प्राकृत और संस्कृत में स्वयं कहा है।

उदात्त आदि स्वर हैं। इनका भी वहीं निर्देश है—

'उदात्तश्चानुदात्तश्च स्वरितश्च स्वरास्त्रयः (पा० शि० ११) अर्थात् स्वर के तीन प्रकार हैं—उदात्त, अनुदात्त और स्वरित।

ह्रस्व आदि मात्रा हैं। इनका भी वहीं निर्देश है—

'ह्रस्वो दीर्घः प्लुत इति कालतो नियमा अचि।' (पा० शि० ११) अर्थात् ह्रस्व दीर्घ और प्लुत ये तीन मात्राएं काल के नियम के अनुसार अच् में होती हैं।

स्थान और प्रयत्न को बल कहते हैं—'अष्टौ स्थानानि वर्णानाम्' (पा० शि० १३) अर्थात् वर्णों के उच्चारण के आठ स्थान हैं। 'अचोऽस्पृष्टा, यणस्त्वीषद्' (पा० शि० ३८) अर्थात् 'अच्' के प्रयत्न अस्पृष्ट होते हैं और 'यण्' के प्रयत्न ईषत्स्पृष्ट होते हैं।

साम का अभिप्राय 'साम्य' से है। अतिद्रुत, अतिविलम्बित तथा गीति आदि दोषों से रहित और माधुर्य आदि गुणों से युक्त उच्चारण को साम्य कहते हैं। 'गीती शीघ्री शिरःकम्पी' (पा० शि० ३२) और 'उपांशु दष्टं त्वरितं' (पा० शि० ३५) इत्यादि से दोषों का निर्देश किया है और 'माधुर्यमक्षरव्यक्तिः' (पा० शि० ३३) इत्यादि से गुणों का निर्देश किया है।

सन्तान अर्थात् संहिता (एक पद का दूसरे पद से सन्निकर्ष)। 'वायवायाहि' (वायो ! आयाहि) यहाँ दोनों के बीच अवादेश है; 'इन्द्राग्नी आगतं' यहां प्रकृतिभाव है। संहिता का निर्देश व्याकरण में विस्तार से किया है अतः शिक्षा में यह उपेक्षित है।

पृष्ठ ४९ : नियमानुसार वर्णों में उच्चारण न होने पर विघ्न होता है। उदाहरणार्थ—

मन्त्रो हीनः स्वरतो वर्णतो वा मिथ्याप्रयुक्तो न तमर्थमाह।
स वाग्वज्रो यजमानं हिनस्ति यथेन्द्रशत्रुः स्वरतोऽपराधात्॥
(पा० शि० ५२)

मन्त्र का प्रयोग जब स्वर अथवा वर्ण से हीन करके किया जाता है तब वह मिथ्या ढंग से प्रयुक्त होकर उस अर्थ को व्यक्त नहीं करता, उलटे वह वाग्वज्र होकर यजमान का अनिष्ट कर देता है, जिस प्रकार 'इन्द्रशत्रुर्वर्धस्व' (तै० सं० २।४।१२।१) इस मन्त्र में विवक्षित अर्थ था कि इन्द्र का शत्रु बढ़े। इस अर्थ के अनुसार 'इन्द्रशत्रुः' में तत्पुरुष समास होना चाहिए (इन्द्रस्य शत्रुः इन्द्रशत्रुः)। तत्पुरुष के अन्त में उदात्त होता है, पर पाठ आद्युदात्त करके किया गया, 'इन्द्र' में इ का उदात्त स्वर में पाठ हुआ, फलतः तत्पुरुष समास न होकर बहुव्रीहि हो गई, फिर तदनुसार अर्थ हुआ 'इन्द्रःशत्रु, अर्थात् घातक जिसका' वह अवश्य बढ़े, लेकिन इन्द्र के द्वारा मारा जाय। इस प्रकार स्वरापराध से वृत्र मारा गया। ऐसे अपराधों के परिहार के लिए शिक्षा ग्रन्थ की अपेक्षा होती है।

कल्प का प्रयोजन

आश्वलायन, आपस्तम्ब, बौधायन आदि के सूत्रों को कल्प कहते हैं। जैसी कि 'कल्प' की व्युत्पत्ति है—'कल्प्यते समर्थ्यते यागप्रयोगोऽत्र' अर्थात् याग के प्रयोग का समर्थन करने वाला जो वेदांग है वह 'कल्प' है।

यहां प्रश्न उठता है कि कल्प के रचयिता आश्वलायन क्या मन्त्रकाण्ड के अनुसार प्रवृत्त हैं अथवा ब्राह्मण के अनुसार ? पहला इसलिए सम्भव नहीं कि आश्वलायन ने दर्श और पूर्णमास की व्याख्या से आरम्भ किया है और मन्त्रकाण्ड में 'अग्निमीले' इत्यादि मन्त्र आरम्भ में आते हैं जिनका विनियोग दर्श और पूर्णमास यज्ञों में नहीं है। और दूसरा भी इसलिए सम्भव नहीं कि ब्राह्मण ग्रन्थ में दीक्षणीयेष्टि से आरम्भ किया है। यदि ब्राह्मण भाग के अनुसार आश्वालायन प्रवृत्त होते तो दीक्षणीयेष्टि से आरम्भ न करके दर्श और पूर्णमास से क्यों आरम्भ करते ? अतः सिद्ध हुआ कि वे ब्राह्मण के अनुसार प्रवृत्त नहीं हैं।

समाधान में कहते हैं कि मन्त्रकाण्ड याग-अनुष्ठान के क्रम से प्रवृत्त नहीं है, बल्कि ब्रह्म-यज्ञादि के जप के क्रम से प्रवृत्त है। जैसा कि इस प्रकार विहित है—'यत् स्वाध्याय-मधीयीतैकामप्यृचं यजुः साम वा तद् ब्रह्मयज्ञः' (तै० आ० २।१०।६)। अर्थात् जो व्यक्ति स्वाध्याय के रूप में एक भी ऋचा, यजु, अथवा साम को पढ़ लेता है वह ब्रह्मयज्ञ हो जाता है। इस प्रकार वह ब्रह्मयज्ञ 'अग्निमीले०' इस आम्नाय के क्रम से ही अनुष्ठान के योग्य है। और भी जैसा कि समस्त ऋचाएं, समस्त यजु और समस्त साम 'वाचस्तोमे पारिप्लवं शंसति' तथा इस वचन के द्वारा पारायण कर्म के लिए विहित हैं। प्रायश्चित्त के रूप में भी वेद के पारायण का विधान है—'रिच्यत इव वा एष प्रेव रिच्यते, यो याजयति प्रति वा गृह्णाति, याजयित्वा प्रतिगृह्य वानश्नन् त्रिःस्वाध्यायं वेदमधीयीत' (तै० आ० २।१६) अर्थात् जो विद्वान् द्रव्य के लोभ से अयाज्य-याजन करता है और निषिद्ध वस्तु का दान ग्रहण करता है वह इस लोक में रिक्त अर्थात् कीर्तिशून्य रहता है, अतः उसे प्रायश्चित्त के रूप में अयाज्य-याजन करने और निषिद्ध वस्तु का दान लेने पर बिना भोजन किए तीन बार अपने वेद का पारायण करना चाहिए। इन स्थलों में यद्यपि समस्त मन्त्रकाण्ड का ही विनियोग पारायण के लिए है, तथापि जो क्रम सम्प्रदाय या परम्परा से चला आता है उसके अनुसार पाठ करना चाहिए।

आश्वलायन ने मन्त्रविशेषों का विनियोग–विशेष श्रुति, लिङ्ग, वाक्य, प्रकरण, स्थान और समाख्या इन छः प्रमाणों के आधार पर बतलाया है। (इस प्रमाण-षट्क का मीमांसक लोग विस्तार से विचार करते हैं) यदि इन प्रमाणों के आधार पर विनियोग करने से मन्त्रकाण्ड में प्रदर्शित क्रम को नहीं लिया जाता तब भी कोई विरोध नहीं समझना चाहिए।

पृष्ठ ४६ : 'इषे त्वा' इत्यादि मन्त्र यज्ञ के अनुष्ठान के क्रम से ही आम्नात हैं अतः उसी क्रम से आपस्तम्ब आदि की भी सूत्र-निर्माण से प्रवृत्ति है। और जप आदि के लिए भी वही क्रम माना जायगा। यद्यपि ब्राह्मण में दीक्षणीयेष्टि से आरम्भ किया है तथापि वह इष्टि दर्शपूर्णमास की विकृति है इसलिए उसे तब तक नहीं किया जा सकता जब तक उसके प्रकृतिभूत दर्श-पूर्णमास का अनुष्ठान नहीं किया जाता (तात्पर्य यह कि 'प्रकृतिवद् विकृतिः कर्तव्या' इस सिद्धान्त के अनुसार प्रकृति याग में जो जो मन्त्र, देवता, पात्र और हवि होते है उन्हीं का अतिदेश विकृति याग में होता है। इस प्रकार विकृति-रूप होने के कारण दीक्षणीयेष्टि के मन्त्र और देवता आदि प्रकृति-रूप दर्श-पूर्णमास याग में प्रयुक्त होने वाले मन्त्र और देवता के अतिदेश की अपेक्षा रखते हैं), अतः दर्श-पूर्णमास का व्याख्यान

जो आश्वलायन ने, पहले किया वह उचित है। इससे प्रतीत होता है कि कल्पसूत्र मन्त्र विनियोग बतलाकर क्रतु के अनुष्ठान का उपदेश करके उपकारक होता है।

यहां शङ्का करते हैं कि 'प्र वो वाजा' इत्यादि सामिधेनी ऋचाओं का ही विनियोग आश्वलायन को बताना चाहिए, 'नमः प्रवक्त्रे' इत्यादि ऋचाएं जो आम्नात नहीं हैं उनका विनियोग क्यों बताते हैं? उत्तर में कहते हैं कि यह कोई दोष नहीं है। जो ऋचाएं शाखान्तर में समाम्नात हैं उनका विनियोग जब ब्राह्मणान्तर सिद्ध है तब उनका भी संग्रह (गुणोपसंहार न्याय के अनुसार) कर लेते हैं। तात्पर्य यह कि समस्त शाखाओं में एक कर्म जो विहित है उन सब को एकत्र कर लेना 'गुणोपसंहार' कहलाता है। आश्वलायन ने ऐसा ही गुणोपसंहार करते हुए 'नमः प्रवक्त्रे' का विनियोग बताया है। इस प्रकार शिक्षा की भांति कल्प भी वेद के लिए अपेक्षित है।

व्याकरण का प्रयोजन

प्रकृति, प्रत्यय आदि के उपदेश के द्वारा पद के स्वरूप और अर्थ के निश्चय के लिए व्याकरण का उपयोग है। जैसा कि ऐन्द्रवायवग्रह ब्राह्मण में कहा है—'वाग्वै पराच्य व्याकृतावदत्ते देवा इन्द्रमब्रुवन्निमां नो वाचं व्याकुर्विति। सोऽब्रवीत्, वरं वृणै मह्यं चैवैष वायवे च सह गृह्याता इति। तस्माद् ऐन्द्रवायवः सह गृह्यते। तामिन्द्रो मध्यतोऽवक्रम्य व्याकरोत्। तस्मादिदं व्याकृता वागुद्यते' (तै० सं० ६।४।७।३) अर्थात् 'अग्निमीळे पुरोहितं' इत्यादि वाक् प्राचीन काल में समुद्र आदि की ध्वनि की भाँति एक रूप होने के कारण अव्याकृत रही, तब ऐसा कोई ग्रन्थ न था जिसमें प्रकृति, प्रत्यय, पद और वाक्य का विभाग किया गया हो। उस समय देवताओं ने इन्द्र से प्रार्थना की, तब इन्द्र एक ही पात्र में वायु के और अपने सोमरस का ग्रहण रूप वर से प्रसन्न हो गए और उस अखण्ड वाणी को बीच-बीच में विच्छेद करके प्रकृति, प्रत्यय आदि के रूप में सर्वत्र विभक्त कर दिया। उससे यह वाणी आज भी पाणिनि आदि महर्षियों द्वारा प्रकृति प्रत्ययों में विभक्त या व्याकृत हुई और लोग उसे पढ़ने लगे।

वररुचि ने उस व्याकरण के प्रयोजन को वार्तिक ग्रन्थ में इस प्रकार निर्देश किया है— 'रक्षोहागमलघ्वसन्देहाः प्रयोजनम्'। अर्थात् वेद की रक्षा, ऊह, आगम, लघु और असन्देह आदि व्याकरण शास्त्र के प्रयोजन हैं। महाभाष्यकार पतञ्जलि ने निर्दिष्ट रक्षा आदि प्रयोजनों को तथा अतिरिक्त प्रयोजनों की व्याख्या की है। वेदों की रक्षा करने के लिए व्याकरण पढ़ना चाहिये, क्योंकि जो व्यक्ति लोप, आगम, वर्णविकार आदि को जानने वाला है वही व्यक्ति ही सम्यक् प्रकार से वेदों का परिपालन करेगा और वेद के अर्थ को समझ सकता है। इसी प्रकार ऊह या तर्क भी व्याकरण के अध्ययन का प्रयोजन है। वेद में समस्त लिङ्गों और समस्त विभक्तियों सहित वेदमन्त्रों का उच्चारण नहीं होता। जो व्यक्ति अवैयाकरण है अर्थात् व्याकरण शास्त्र जो नहीं जानता, वह किसी प्रकार लिङ्गों और विभक्तियों को यथाप्रसंग बदल नहीं सकता। अतः ऊह के लिए व्याकरण पढ़ना चाहिए। इसी प्रकार आगम अर्थात् वेद भी व्याकरण के अध्ययन का प्रयोजन है—'ब्राह्मणे

निष्कारणो धर्मः षडङ्गो वेदोऽध्येयो ज्ञेयश्च' अर्थात् ब्राह्मण को चाहिए कि वह बिना किसी दृष्ट करण की प्रतीक्षा किए धर्म की भावना से छः अङ्गों सहित वेद का अध्ययन और अर्थज्ञान करे।'

पृष्ठ ४७ : वेद के छः अङ्गों में व्याकरण ही प्रधान (मुख) माना जाता है। इस प्रकार गौण की अपेक्षा प्रधान में किया गया यत्न फलित होता है, अतः व्याकरण का अध्ययन करना चाहिये यह बात सिद्ध हुई। लघ्वर्थ व्याकरण पढ़ना चाहिये, क्योंकि व्याकरण से थोड़े में ही बहुत से शब्दों के नियम अवगत हो जाते हैं। जैसी कि एककथा है—

देवों के गुरु बृहस्पति दिव्य एक हजार वर्ष तक प्रतिपद कथित शब्दों का पारायण करके इन्द्र को सुनाने लगे और पूरा न कर सके। बृहस्पति जैसे वक्ता और इन्द्र जैसे अध्येता, अध्ययन का समय दिव्य एक हजार वर्ष, तब भी अध्ययन पूरा न हो सका। आज तो यदि कोई बहुत बड़ी आयु वाला होता है तो सौ वर्ष तक जीवित रहता है। आज यदि प्रतिपद का कोई पाठ करे तो कैसे समग्र पदों को समझ सकता है, उन पदों के प्रयोग की बात तो दूर है। इसी प्रकार सन्देह उत्पन्न न हो इसके लिये (असन्देहार्थ) व्याकरण पढ़ना चाहिए। जैसा कि याज्ञिक लोग पढ़ते हैं—'स्थूलपृषतीमाग्निवारुणीमनड्वाहीमालभेत' अर्थात् स्थूल चिह्नभूत बिन्दुओं (छींटे) वाली गौ का आलभन करे। यहाँ बहुव्रीहि समास (स्थूलानि पृषन्ति यस्याः सा) होगा अथवा कर्मधारय (स्थूला चासौ पृषती)। यह जो वैयाकरण नहीं होगा, वह स्वर को सुनकर नहीं निर्णय कर सकेगा; और जो व्याकरण पढ़ा है वह जानता है कि कर्मधारय वहाँ होता है जहाँ उदात्त स्वर समासान्त में हो और बहुव्रीहि में उदात्त पूर्वपद में होता है।

और भी शब्दानुशासन (व्याकरणशास्त्र) के आनुषङ्गिक प्रयोजन हैं, उनका निर्देश करते हैं—

असुरों के पराजित होने का कारण यह हुआ कि 'हे अरयोऽरयः' इस प्रकार पदमात्र का द्वित्व तथा प्रकृतिभाव न करके उन्होंने 'हेलयो हेलयः' इस प्रकार वाक्य का द्वित्व पूर्वरूप और 'र' का 'ल' कर डाला। इसलिए ब्राह्मण को म्लेच्छ शब्द (अपशब्द) का उच्चारण नहीं करना चाहिये। व्याकरण का अध्ययन करने वाला म्लेच्छ होने से बच जाता है अतः उसका अध्ययन करना चाहिये।

दुष्टः शब्दः स्वरतो वर्णतो वा मिथ्याप्रयुक्तो न तमर्थमाह।
स वाग्वज्रो यजमानं हिनस्ति यथेन्द्रशत्रुः स्वरतोऽपराधात्॥
(पा० शि० ५२)

स्वर अथवा वर्ण के विपरीत प्रकार के प्रयोग करने से दुष्ट शब्द अपने अर्थ का अभिधान नहीं कर पाता। वह वाग्वज्र होकर यजमान को मार डालता है, जिस प्रकार स्वर के अपराध से 'इन्द्रशत्रुर्वर्धताम्' यह मन्त्र वाग्वज्र होकर घातक सिद्ध हुआ। दुष्ट शब्दों का प्रयोग हम न करें, इसलिए व्याकरण का अध्ययन करना चाहिये।

'यदधीतमविज्ञातं निगदेनैव शब्द्यते।
अनग्नाविव शुष्कैधो न तज्ज्वलति कर्हिचित्॥

अर्थात् आचार्य से अधीत जिस वेदवाक्य को अर्थज्ञान से रहित होकर पाठ के रू वार वार उच्चारण करते हैं, कभी भी वह उस प्रकार ज्वलित नहीं होता, अर्थात् अ अर्थ का प्रकाशन नहीं करता, जिस प्रकार अग्निरहित प्रदेश में पड़ा हुआ सूखा ज्वलित नहीं होता।

हम अज्ञात अर्थ वाले वाक्य का अध्ययन न करें, इसलिये व्याकरण को पढ़ना चाहि

'यस्तु प्रयुङ्क्ते कुशलो विशेषे शब्दान् यथावद् व्यवहारकाले।
सोऽनन्तमाप्नोति जयं परत्र वाग्योगविद् दुष्यति चापशब्दैः॥'

अर्थात् जो कुशल व्यक्ति विशेष व्यवहार के अवसर पर यथावत् शब्दों का प्र (सूत्रों–नियमों का स्मरण करते हुए) करता है वह अनन्त विजय को प्राप्त करत और वाणी के परस्पर योग को न जानने वाला व्यक्ति अपशब्दों से दूषित हो जाता है।

पृष्ठ ४८ : जो वाग्योगविद् होता है (प्रकृति-प्रत्यय का विभाग करके वाणी के पर योग को समझ लेता है) वह शब्दों के साथ अपशब्दों को भी जानता है। जिस प्र उसे शब्दों के ज्ञान से धर्म होता है उसी प्रकार अपशब्दों का ज्ञान रखने से अधर्म होता है। अपशब्दों की संख्या शब्दों की अपेक्षा बहुत अधिक है। एक ही शब्द के बहुत अपभ्रंश हो जाते हैं।

उदाहरणार्थ गो शब्द को लीजिए। इसके अपभ्रंश गावी, गोणी गोता, गोपोतलि इत्यादि अनेक हैं। जो व्यक्ति वाणी के परस्पर योग से अपरिचित है उसका अज्ञान उसे पाप से बचा लेता है। दोष तो उसे लगता है जो वाग्योगविद् होता है। (परन्तु) उपन्यास ठीक नहीं है। जिसे वाणी का योग अर्थात् बिलकुल ज्ञान नहीं उसे उसका अ कैसे बचा सकता है? क्योंकि पतित तो वह भी हो जाता है जो अनजाने में ब्रह्महत्या डालता है अथवा सुरापान कर लेता है। इसलिए अपशब्दों के प्रयोग का दोष वा योग को न जाने वाले व्यक्ति को लगता है। और जो वाग्योगविद् या वैयाकरण है उसे शब्दों के ज्ञान से जो अधर्म होता है उसकी अपेक्षा शब्दों के ज्ञान से अधिक धर्म होता अतः धर्म के अधिक होने के लिए व्याकरण का अध्ययन करना चाहिए।

'अविद्वांसः प्रत्यभिवादे नाम्नो ये न प्लुतिं विदुः।
कामं तेषु तु विप्रोष्य स्त्रीष्विवायमहं वदेत्॥'

व्याकरण को न जानने वाले अविद्वान् जो व्यक्ति अभिवादन के पश्चात् दिए जाने आशीर्वाद के वाक्य में अभिवाद को प्लुत करके बोलना नहीं जानते, उनका वह आर्शी वाक्य वैसा ही है जैसे प्रवास से लौटा हुआ कोई अपनी माता आदि पूज्य स्त्रियों के 'अयमहं' कह देता है।

इस प्रकार स्त्रियों की भांति अभिवादक द्वारा किए गए अपमान का दुःख हमें न हो अतः व्याकरण पढ़ना चाहिए।

याज्ञिक लोग पढ़ते हैं—'प्रयाजाः सविभक्तिकाः कार्याः' अर्थात् प्रकृतियाग प्रयाजमन्त्रों को विभक्तियों से युक्त करना चाहिए। बिना व्याकरण के ज्ञान के प्र

मन्त्रों का विभक्तिसहित पाठ नहीं किया जा सकता। अतः व्याकरण का अध्ययन करना चाहिए।

जो व्यक्ति इस वाणी को पद, स्वर, अक्षर और वर्ण में विभक्त कर देता है वह आर्त्विजीन अर्थात् ऋत्विक्कर्म में समर्थ हो जाता है।

हम आर्त्विजीन बनें, अतः व्याकरण को पढ़ना चाहिए।

'चत्वारि शृङ्गा त्रयो अस्य पादा द्वे शीर्षे सप्त हस्तासो अस्य।
त्रिधा बद्धो वृषभो रोरवीति महो देवो मर्त्यां आविवेश(१) ॥'

(ऋ० ४।५८।३)

नाम, आख्यात, उपसर्ग, निपात ये चार पद सींग हैं। भूत, वर्तमान और भविष्य ये तीन काल पैर हैं। सुप् और तिङ् ये दो सिर हैं। सात विभक्तियाँ सात हाथ हैं। उर, कण्ठ और सिर इन तीन स्थानों में बंधा हुआ है। इस प्रकार कामों का वर्षण करने वाला, शब्द करने वाला वृषभ (बैल) महान् देव शब्द रूप से मनुष्यों में निवास करने लगा। वृषभ रूप उस महान् देव के साथ हमारा तादात्म्य हो अतः व्याकरण अध्ययन करना चाहिये।

'चत्वारि वाक्परिमिता पदानि तानि विदुर्ब्राह्मणा ये मनीषिणः।
गुहा त्रीणि निहिता नेङ्गयन्ति तुरीयं वाचो मनुष्या वदन्ति ॥'

(ऋ० १।१६४।४५)

पृष्ठ ४९ : वाणी अपने चार पदों (नाम, आख्यात, उपसर्ग और निपात) में परिमित है, इसे मनीषी ब्राह्मण ही जानते हैं। निर्दिष्ट चारों पदों में वाणी के तीन रूप (परा, पश्यन्ती और मध्यमा) गुहा में निहित रहने के कारण चेष्टारहित हैं अर्थात् उन्हें अवैयाकरण नहीं जानता। मनुष्य (व्याकरण न जानने वाले) लोग चौथी वाणी (वैखरी) को ही बोलते हैं।

'उत त्वः पश्यन्न ददर्श वाचमुत त्वः शृण्वन्न शृणोत्येनाम्।
उतो त्वस्मै तन्वं विसस्रे जायेव पत्ये उशती सुवासाः ॥'

(ऋ० १०।७१।४)

इस वाणी को एक (अविद्वान्) देखता हुआ भी नहीं देखता और सुनता हुआ भी नहीं सुनता। और दूसरे (विद्वान्) के समान वह अपने शरीर को फैला देती है। अभिप्राय यह कि जिस प्रकार पति को चाहती हुई, सुन्दर वसन धारण किए हुई पत्नी अपने आपको विवृत कर देती है उसी प्रकार वाणी विद्वान् पुरुष के सामने अपने स्वरूप को स्पष्ट कर देती है, उससे कुछ छिपा नहीं रखती। वाणी अपने को हमारे सामने विवृत कर दे अतः व्याकरण का अध्ययन करना चाहिए।

---

१. इस मन्त्र की व्याख्या विभिन्न शास्त्र में विभिन्न प्रकार से की गई है। भगवान् पतञ्जलि इसे शब्द रूप महादेव के स्वरूप वर्णन में संघटित करते हैं। काव्यमीमांसा में राजशेखर ने इसे काव्यपुरुष के वर्णन में लगाया है और निरुक्तकार यास्क इसका यज्ञपुरुष-परक अर्थ संगत मानते हैं। सायणाचार्य इसका व्याख्यान यज्ञात्मक अग्निपरक कहते हैं।

पृष्ठ ५० : 'सक्तुमिव तितउना पुनन्तो यत्र धीरा मनसा वाचमक्रत।
अत्रा सखायः सख्यानि जानते भद्रैषां लक्ष्मीर्निहिताऽधि वाचि ॥'
(ऋ० १०।७१।२)

अर्थात् धीर लोग अपने प्रज्ञान मन के द्वारा उस प्रकार वाणी को अपशब्दों से रहित क देते हैं जिस प्रकार चालनी से चाल कर सत्तू को अविकृत कर दिया जाता है। सखिभाव ये लोग सायुज्य को जानते हैं अर्थात् शब्द ब्रह्ममय जगत् को एक भाव से जान लेते हैं निर्विकल्पक ज्ञान के एक ही मार्ग से गम्य वह दुर्गम मार्ग वाणी का विषय होता है वैयाकरण लोग उसे जानते हैं जिनकी वाणी में भद्रा लक्ष्मी निहित होती है, अर्थात् वे वेदाख्य ब्रह्म का ज्ञान लाभ करके परमार्थ तत्त्व को जानते हैं।

याज्ञिक लोग पढ़ते हैं—'आहिताग्निरपशब्दं प्रयुञ्जानः प्रायश्चित्तीयां सारस्वतीमिष्टिं निर्वपेत्'। अर्थात् आहिताग्नि अपशब्दका प्रयोग कर दे तो वह प्रायश्चित्त के लि सारस्वती इष्टि करे।

व्याकरण जानने वाला अपशब्द का प्रयोग नहीं करता अतः इसे प्रायश्चित करना नह पड़ता। प्रायश्चित्त के भागी न हों अतः व्याकरण का अध्ययन करना चाहिए।

पुत्र उत्पन्न होने के दस दिन बाद पुत्र का नामकरण संस्कार करे, नाम का प्रथम अक्ष घोष वाला होना चाहिए, बीच का कोई अन्तःस्थ तथा अन्त में विसर्ग हों, अथवा द्व्यक्षर ना को तद्धितान्त न करे बल्कि कृदन्त करे।

इस नियम के अनुसार बिना व्याकरण के ज्ञान के कृदन्त और तद्धितान्त का भेदज्ञा नहीं होगा, अत व्याकरण का अध्ययन करना चाहिए।

सुदेवो असि वरुण यस्य ते सप्त सिन्धवः।
अनुक्षरन्ति काकुदं सूर्म्यं सुषिरामिव ॥ (ऋ० ८।६९।१२)

अर्थात् हे वरुण (वैयाकरण), तुम शोभन देवता हो, जिस तुम्हारे काकुद अर्थात् ता पर सात सिन्धु (सात विभक्तियाँ) उस प्रकार झरती हैं (प्रकाशित होती हैं) जैसे सुषि (नदी की तल भूमि) पर।

पृष्ठ ५१ : इस प्रकार महाभाष्य में निर्दिष्ट 'सिद्धे शब्दार्थसम्बन्धे' इत्यादि वार्तिको प्रयोजनों का इस प्रसङ्ग में अनुसन्धान कर लेना चाहिए।

निरुक्त का प्रयोजन

अब निरुक्त का प्रयोजन बतलाते है। किसी शब्द के अर्थज्ञान में दूसरे व्याकरणादि अपेक्षा के बिना स्वयं अर्थ के प्रगट करने को 'निरुक्त' कहते है। जैसा कि निरुक्त ग्रन्थ 'गौः, ग्मा, ज्मा, क्ष्मा, क्षमा' इत्यादि पदों से लेकर 'वसवः, वाजिनः देवपत्न्यः' इ पदों तक का समाम्नाय (निघण्टु) जो कहा गया है उसके अर्थज्ञान के लिए दूसरे व्याकरण की अपेक्षा नहीं है, क्योंकि पृथिवी के इतने नाम और सुवर्ण के इतने नाम इस प्रकार स रूप से वहाँ कहा गया है। निरुक्त ग्रन्थ में तीन काण्ड हैं—(१) नैघण्टुक काण्ड गौः लेकर अपारे तक हैं। इस काण्ड में तीन अध्याय और १३४१ पद हैं। दूसरा नैगम का

जहा से ऋपीसम् पर्यन्त है। इसमें चार अध्याय हैं तीसरा दैवत काण्ड अग्नि से लेकर देवपत्नी पर्यन्त है। इसमें पांच अध्याय हैं तथा इस काण्ड में पृथिवी, अन्तरिक्ष और द्युलोक स्थानीय देवताओं का वर्णन है। इस प्रकार गौः से लेकर देवपत्नी पर्यन्त को 'समाम्नाय' कहा जाता है।

'निघण्टु' शब्द से उस ग्रन्थविशेष को कहा जाता है जिसमें एकार्थवाची पर्याय शब्दों का प्रायः ग्रन्थन हो। उस प्रकार के ग्रन्थ अमरसिंह, वैजयन्ती, हलायुध आदि नामों से जो मिलते हैं उन सबको मिलाकर दस निघण्टुओं का व्यवहार प्रचलित है। इस प्रकार प्रथम काण्ड में भी पर्याय शब्दों के उपदेश को देखकर इसे नैघण्टुक काण्ड कहा गया है। इस काण्ड के प्रथम अध्याय में पृथिवी आदि लोक, दिक्, काल आदि की चर्चा है, दूसरे में मनुष्य और उसका अवयव आदि की चर्चा है और तीसरे अध्याय में उन दोनों प्रकार के द्रव्यों की दीर्घता और ह्रस्वता आदि धर्मविषयक चर्चा है।

'निगम' शब्द वेद का पर्याय है। जैसा कि यास्क ने अपने निरुक्त ग्रन्थ में स्थान स्थान पर 'निगमो भवति' कह कर वेदवाक्यों को ही उद्धृत किया है। इसलिए निगम अर्थात् वेद में प्रायः वर्तमान शब्दों के चतुर्थाध्याय रूप द्वितीय काण्ड में उपदिष्ट होने के कारण इसे नैगमकाण्ड कहते हैं।

पांचवे अध्याय अर्थात् तृतीय काण्ड को दैवतकाण्ड कहने का कारण स्पष्ट ही है कि उसमें देवताओं की चर्चा है।

इस प्रकार पांच अध्यायों और तीन काण्डों में विभक्त इस ग्रन्थ में दूसरे व्याकरण आदि की अपेक्षा न करके पदार्थ का उक्त होने के कारण इसका नाम निरुक्त रखा गया। इसका व्याख्यान महर्षि यास्क ने 'समाम्नायः समाम्नातः' से लेकर—

पृष्ठ ६२ : 'तस्यास्तस्यास्ताद्भाव्यमनुभवतीत्यनुभवतीति' पर्यन्त बारह अध्यायों में प्रस्तुत किया है। उस व्याख्यान को भी 'निरुक्त' नाम से अभिहित करते हैं, क्योंकि उस व्याख्यान में प्रत्येक पद के सम्भावित अर्थों को निःशेष रूप से कहा है। जैसा कि निरुक्त ग्रन्थ में कहा है—पद की चार जातियां हैं, नाम, आख्यात, उपसर्ग और निपात। इस प्रकार विभाग करके 'निपात' का स्वरूप बताते हुए कि 'ऊँचे-नीचे अर्थों में आते हैं (निपतन्ति)' उदाहरण दिया है, जैसे लोकभाषा में प्रतिषेध के अर्थ में प्रयुक्त होने वाला 'न' यह निपात शब्द वेद में प्रतिषेध और अप्रतिषेध दोनो अर्थों में प्रयुक्त होता है; 'नेन्द्रं देवममंसत' इसमें प्रयुक्त 'न' का प्रतिषेध के अर्थ में प्रयोग है और 'दुर्मदासो न सुरायाम्' इसमें प्रयुक्त 'न' उपमार्थीय अर्थात् इवार्थक है, 'जैसे सुरा को पान करके दुर्मद हो जाते हैं' (नि० १।१।४)। इस प्रकार लोक में जो नकार केवल प्रतिषेध के अर्थ में प्रयुक्त होता है उसे वेद में प्रतिषेध और उपमा इन दो अर्थों में प्रयोग किए जाने का उदाहरण इस निरुक्त ग्रन्थ में उद्धृत किया है। इस प्रकार निरुक्तकार ने जिन पदों के निर्वचन किए हैं उनका प्रयोग जिन मन्त्रों में मिलेगा उनकी व्याख्या करते हुए यास्क के निर्वचन को हम उद्धृत करेंगे। निरुक्त के निर्वचनों के निर्मूल होने की शंका करना ठीक नहीं है, क्योंकि ब्राह्मण ग्रन्थों में मन्त्र के पदार्थ की व्युत्पत्ति के लिए कुछ पदों का निर्वचन मिलता है। जैसे 'तदाहुतीनामाहुतित्वम्'

(ऐत० ब्रा० १।१।२); 'तमिदन्द्रं सन्तमिन्द्र इत्याचक्षते' (ऐत० आ० २।४।३), अर्था उन्होंने फैले हुए इन सब को देखा है, अतः इन्हें इन्द्र कहते हैं; 'यदप्रथयत् तत् पृथिव्या पृथिवीत्वम्' (तै० ब्रा० १।१।३।६।७) अर्थात् प्रजापति ने सृष्टि के आरम्भ में जगत् जलमय देखते हुए एक कमल देखा और सोचा कि इसका कोई आधार अवश्य हो सकता है तब वे वारह रूप धारण करके जल में घुसे उसके आधार भूत पंकरूप धरणी को अल्प ऊपर लाकर उसे कमल के पत्रों पर फैला दिया, इस प्रकार प्रजापति के द्वारा प्रार्थना कि जाने से धरणी का नाम 'पृथिवी' पड़ा। निरुक्तकार स्थान-स्थान पर अपने द्वारा उक्त निर्वचन के मूल आधारभूत ब्राह्मणों को उद्धृत करते हैं। कुछ निर्वचन तो व्याकरण के अनुसा भी सिद्ध हो जाते हैं, लेकिन सब निर्वचनों की सिद्धि व्याकरण के बल पर सम्भव नहीं अतएव निरुक्तकार का कहना है—'तदिदं विद्यास्थानं व्याकरणस्य कात्स्न्र्यं स्वार्थ साधकञ्च' (नि० १।१५) अर्थात् यह निरुक्त नामक विद्यास्थान पाणिनि आदि द्वारा प्रणी व्याकरण की समग्रता सिद्ध करता है और साथ ही उनका स्वार्थ साधक भी है। इस लि वेद के अर्थज्ञान के लिए निरुक्त का उपयोग है।

छन्द का प्रयोजन

छन्दःशास्त्र के ग्रन्थ का भी उपयोग है, क्योंकि मन्त्रों में विशेष प्रकार के छन्द विहि हैं। जैसा कि आम्नात है—'तस्मात् सप्त चतुरुत्तराणि छन्दांसि प्रातरनुवाकेऽनूच्यन्ते' (तै० ब्रा० १।५।१२।१) अर्थात् क्रमशः चार-चार अधिक अक्षरों वाले सात छन्दों को प्रातःकाल के अनुवाक में कहते हैं। गायत्री, उष्णिक्, अनुष्टुप्, बृहती, पङ्क्ति, त्रिष्टुप्, जगती ये सात छन्द हैं। गायत्री में चौबीस अक्षर होते हैं। इससे भी चार अक्षर अधि अट्ठाइस अक्षरों वाला छन्द उष्णिक् है।

इसी क्रम से उत्तरोत्तर अधिक अक्षरों वाले अनुष्टुप् आदि छन्द होते हैं। और जैसा कि अन्यत्र भी सुना जाता है—'गायत्रीभिर्ब्राह्मणस्यादध्यात्, त्रिष्टुब्भी राजन्यस्य जगतीभिर्वैश्यस्य' (तै० ब्रा० १।१।९।६) अर्थात् गायत्री छन्दों से ब्राह्मण का आधान करे, त्रिष्टुप् छन्दों से क्षत्रिय का और जगती छन्दों से वैश्य का। मगण, यगण आदि प्रकारों के बोध के बिना गायत्री आदि छन्दों का विवेक कठिन है, अतः उनके ज्ञान के लिए छन्दोग्रन्थ की अपेक्षा होती है। और भी, जैसा कि कहा है; जिस व्यक्ति को आर्ष छन्दों का ज्ञान नहीं है और वह दैवतब्राह्मण मन्त्र से यज्ञ कराता है अथवा अध्यापन कराता है तो वह स्थाणु होता है, गर्त (गड्ढा) में गिरता है अथवा पाप का भागी होता है (का० १।१) अतः प्रति मन्त्र में उसके छन्द को अवश्य जाने। इस प्रकार छन्दों के ज्ञान के लिए छन्दःशास्त्र के ग्रन्थ का उपयोग है।

ज्योतिष का प्रयोजन

ज्योतिष का प्रयोजन उसी ग्रन्थ (कात्यायन अनु०) में विहित है—'यज्ञकालार्थ सिद्धये' अर्थात् यज्ञ के समय की सिद्धि के लिए ज्योतिष का अध्ययन करना चाहिये।

पृष्ठ ४३ : जैसा कि कालविशेष की विधियाँ श्रुत हैं—'संवत्सरमेतद् व्रतं चरेत्' (तै० आ० १।३।२।१) अर्थात् यह व्रत संवत्सर पर्यन्त करे। 'संवत्सरमुख्यं भृत्वा' इत्यादि संवत्सर पर्यन्त तक नियमाचरण की विधियाँ हैं। 'वसन्ते ब्राह्मणोऽग्निमादधीत०' (तै० ब्रा० १।१२।६।७) अर्थात् वसन्तकाल में ब्राह्मण अग्नि का आधान करे, ग्रीष्म में क्षत्रिय और शरत्काल में वैश्य इस प्रकार ऋतुओं से विधान हैं। माससम्बन्धी विधान—'मासि मासि सत्रपृष्ठानि उपयन्ति, मासि मासि अतिग्राह्या गृह्यन्ते' (तै० सं० ७।५।१५); पक्ष सम्बन्धी विधान—'यं कामयेत वसीयान् स्यादिति तं पूर्वपक्षे याजयेत्' (तै० सं० २।२।३।१); तिथि सम्बन्धी विधान—'एकाष्टकायां दीक्षेरन्' 'फाल्गुनीपूर्णमासे दीक्षेरन्' (तै० सं० ७।४।८।१); प्रातःकाल आदि सम्बन्धी विधान—'प्रातर्जुहोति; सायं जुहोति' (तै० ब्रा० २।१।२); नक्षत्र सम्बन्धी विधान—'कृत्तिकास्वग्निमादधीत' (तै० ब्रा० १।१।२।१)। इसलिए इन कालविशेषों की जानकारी के लिए ज्योतिष का अध्ययन आवश्यक है।

वेदार्थ के उपकार करने वाले इन छह ग्रन्थों का वेदाङ्ग होना शिक्षाग्रन्थ में ही कहा है—

'छन्दः पादौ तु वेदस्य हस्तौ कल्पोऽथ पठ्यते।
ज्योतिषामयनं चक्षुर्निरुक्तं श्रोत्रमुच्यते॥
शिक्षा घ्राणं तु वेदस्य मुखं व्याकरणं स्मृतम्।
तस्मात् साङ्गमधीत्यैव ब्रह्मलोके महीयते॥'

(पा० शि० ४१-४२)

अर्थात् वेद रूप पुरुष के दोनों पैर छन्द है, दोनों हाथ कल्प है, आँख ज्योतिष है, कान निरुक्त है, नाक शिक्षा है और मुख व्याकरण है इस प्रकार साङ्ग वेद का अध्ययन करने वाला ब्रह्मलोक में पूजित होता है।

पुराण आदि शास्त्रों का प्रयोजन

पृष्ठ ४७ : जिस प्रकार उपर्युक्त शिक्षा, कल्प आदि छह अङ्ग वेदार्थ के ज्ञान के उपयोग में आते हैं उसी प्रकार पुराण आदि का भी उपयोग है, जैसा कि याज्ञवल्क्य स्मरण करते हैं—

'पुराणन्यायमीमांसाधर्मशास्त्राङ्गमिश्रिताः।
वेदाः स्थानानि विद्यानां धर्मस्य च चतुर्दश॥'

(या० स्मृ० १।३)

अर्थात् पुराण, न्याय, मीमांसा, धर्मशास्त्र, छह अङ्ग और चार वेद चौदहों विद्याओं और धर्म के स्थान हैं।

'इतिहासपुराणाभ्यां वेदं समुपबृंहयेत्।
बिभेत्यल्पश्रुताद् वेदो मामयं प्रहरेदिति॥' (म० भा० १।१।२६७)

अर्थात् इतिहास और पुराण के अध्ययन से वेद-विषयक ज्ञान का संवर्धन करना चाहिये, क्योंकि वेद 'मुझपर यह शायद प्रहार करे' यह सोच कर अल्पश्रुत (इतिहास और पुराण से अपरिचित) व्यक्ति से डरता है।

ऐतरेय, तैत्तिरीय, काठक आदि शाखाओं के सूक्तों में हरिश्चन्द्र, नाचिकेत आ
अनेक उपाख्यान धर्म और ब्रह्म के ज्ञान के उपयोगी के रूप में उद्धृत हैं और उ
विस्तार से वर्णन इतिहास ग्रन्थों में प्राप्त होता है।

इसी प्रकार उपनिषदों में जो जगत् की सृष्टि, स्थिति और लय की चर्चा है, उ
स्पष्टीकरण ब्रह्म, पद्म, विष्णु आदि पुराणों में हुआ है—

'सर्गश्च प्रतिसर्गश्च वंशो मन्वन्तराणि च।
वंशानुचरितं चेति पुराणं पञ्च लक्षणम् ॥'

(वि० पु० ३।६।२

अर्थात् जगत् की सृष्टि, जगत् का नाश, वंश मन्वन्तर और वंशपरम्परा का इति
ये पांच पुराण के लक्षण हैं।

पृष्ठ ५४ : इस प्रकार सृष्टि अदि का प्रतिपादन पुराण ग्रन्थों में हुआ है। न्यायशा
प्रमाण, प्रमेय, संशय, प्रयोजन, दृष्टान्त आदि सोलह पदार्थों का निरूपण है, उसके अनु
यह निर्णय किया जा सकता है कि अमुक वाक्य अमुक अर्थ में प्रमाण है, दूसरा न
पूर्व मीमांसा और उत्तर मीमांसा का वेद के लिए उपयोग अत्यन्त स्पष्ट ही है। मनु,
विष्णु, हारीत आदि द्वारा प्रोक्त स्मृति में वेदोक्त सन्ध्यावन्दनादि विधियों का विस्तार
वर्णन हैं। 'तदु ह वा एते ब्रह्मवादिनः पूर्वाभिमुखाः सन्ध्यायां गायत्र्याभिमन्त्रि
आप ऊर्ध्वं विक्षिपन्ति' (तै० आ० २।२) पूर्व की ओर मुख करके ब्रह्मवादी लोगों
सन्ध्या में गायत्री से अभिमन्त्रित जलों का ऊपर फेंकने के इस उल्लेख में सन्ध्यावन्दन
विधान है। 'पञ्च वा एते महायज्ञाः सतति प्रतायन्ते' (तै० आ० २।१०), यहाँ
महायज्ञों का विधान है। इसी प्रकार अन्य विधानों को भी देखना चाहिये। इस प्रकार
हमने पुराण, न्याय आदि शास्त्रों को वेद के अर्थज्ञान के लिये कहा, इससे उनका विचार
होना सिद्ध होता है।

पुराण आदि चौदह विद्यास्थानों से उपबृंहित विद्या के ग्रहण के सम्बन्ध में शाखान्तर
मन्त्रों के द्वारा अधिकारिविशेष का उल्लेख किया है। उन मन्त्रों को यास्क ने निरुक्त (२
में उद्धृत किया है।

उनमें यह पहला मन्त्र है—

'विद्या ह वै ब्राह्मणमाजगाम गोपाय मा शेवधिष्टेऽहमस्मि।
असूयकायानृजवेऽयताय न मा ब्रूया वीर्यवती तथा स्याम् ॥

अर्थात् विद्याभिमानिनी देवता, उपदेशक और आचार्य रूप ब्राह्मण के पास आ
बोली—हे ब्राह्मण, अनधिकारियों को न देकर मेरी तू रक्षा कर, क्योंकि मैं तेरी निधि
अर्थात् पुरुषार्थ का लाभ कराने वाली हूँ। इस प्रकार निधि के सदृश मुझ में, और उप
देने वाले तुम में जो व्यक्ति असूया (ईर्ष्या) करता है, और जो विनयपूर्ण ढङ्ग से अ
नहीं करता और जो स्नान, आचमन आदि आचार नियमित रूप से नहीं करता
शिष्यनामधारी को तू मुझे न सिखा। इस प्रकार मैं तेरे हृदय में रह कर वीर्यवती अ
फल देने वाली होऊँगी।

दूसरा मन्त्र है—

'य आतृणत्यवितथेन कर्णावदुःखं कुर्वन्नमृतं सम्प्रयच्छन् ।
तं मन्येत पितरं मातरं च तस्मै न द्रुह्येत् कतमच्चनाह ॥'

पहले मन्त्र में आचार्य के नियम को बता कर इस दूसरे मन्त्र में शिष्य के नियम को बताते हैं—

पृष्ठ ४५ : जो आचार्य अपुरुषार्थभूत असत्य लौकिक वाक्य के विपरीत अपुरुषार्थभूत सत्य अलौकिक वेदवाक्य के द्वारा शिष्य के कानों को बहुत सहल ढङ्ग से पढ़ाने के कारण कष्ट देते हुए और अमृत रूप (मोक्ष को प्राप्त कराने वाले) वेदार्थ का प्रदान करते हुए सब प्रकार से भरते हैं, ऐसे आचार्य को शिष्य उत्पन्न करने वाले पिता माता से भी बढ़ कर मुख्य रूप से पिता-माता समझे और उनसे कभी भी द्रोह न करे ।

तीसरा मन्त्र है—

अध्यापिता ये गुरुं नाद्रियन्ते विप्रा वाचा मनसा कर्मणा वा ।
यथैव ते न गुरोर्भोजनीयास्तथैव तान्न भुनक्ति श्रुतं तत् ॥'

अर्थात् जो अधम शिष्य (ब्राह्मण) गुरु के द्वारा पढ़ाए जाने पर विनययुक्त वाणी से, उनके हित की चिन्ता करके और उनकी सेवा करके गुरु का आदर नहीं करते, ऐसे आदर-भावरहित शिष्यनामधारी लोग गुरु के भोजनीय (अनुभवयोग्य) अर्थात् कृपापात्र नहीं बनते । जिस प्रकार गुरुके द्वारा ऐसे शिष्य पालनीय नहीं होते उसी प्रकार गुरु के द्वारा उपदिष्ट वेदवाक्य भी उन्हें पालन नहीं करता, अर्थात् गुरु का पढ़ाया हुआ वेदवाक्य उनके किसी काम नहीं आता ।

चौथा मन्त्र है—

'यमेव विद्याः शुचिमप्रमत्तं मेधाविनं ब्रह्मचर्योपपन्नम् ।
यस्ते न द्रुह्येत् कतमच्चनाह तस्मै मा ब्रूया निधिपाय ब्रह्मन् ॥'

अर्थात् हे आचार्य ! जो शिष्य तुम्हें पवित्र, प्रमादरहित, मेधावी और ब्रह्मचारी प्रतीत हो, और जो तुमसे कभी द्रोह न करे, तुम्हारी निधि के पालन करने वाले उसी शिष्य को हे ब्रह्मन् ! वेदरूप मुक्त विद्या को अर्पित करना ।

इस प्रकार विद्यादेवता स्वयं आचार्य से प्रार्थना करती है । अतः आचार्य को चाहिए कि वह अपने मुख्य शिष्य को इस वेदविद्या का उपदेश करे ।

इसलिए हम भी छह अङ्गों के अनुसार ऋग्वेद का व्याख्यान करते हैं ।

हिन्दी ऋग्वेदभाष्यभूमिका समाप्त ।

ऋग्वेदसंहितायाः

सायणाचार्यकृता

भाष्यभूमिका

सायणाचार्यकृता

ऋग्वेदभाष्योपक्रमणिका

वागीशाद्याः सुमनसः सर्वार्थानामुपक्रमे ।
यं नत्वा कृतकृत्याः स्युस्तं नमामि गजाननम् ॥ १ ॥
यस्य निःश्वसितं वेदा यो वेदेभ्योऽखिलं जगत् ।
निर्ममे तमहं वन्दे विद्यातीर्थमहेश्वरम् ॥ २ ॥
यत्कटाक्षेण तद्रूपं दधद् बुक्कमहीपतिः ।
आदिशन् माधवाचार्य्यं वेदार्थस्य प्रकाशने ॥ ३ ॥
ये पूर्वोत्तरमीमांसे ते व्याख्यायातिसंग्रहात् ।
कृपालुर्माधवाचार्य्यो वेदार्थं वक्तुमुद्यतः ॥ ४ ॥
आध्वर्यवस्य यज्ञेषु प्राधान्याद् व्याकृतः पुरा ।
यजुर्वेदोऽथ हौत्रार्थमृग्वेदो व्याकरिष्यते ॥ ५ ॥
एतस्मिन् प्रथमोऽध्यायः श्रोतव्यः सम्प्रदायतः ।
व्युत्पन्नस्तावता सर्वं बोद्धु शक्नोति बुद्धिमान् ॥ ६ ॥

अभ्यर्हितत्वादृग्वेदस्यैव व्याख्यानमादावुचितमिति पूर्वपक्षः ।

अत्र केचिदाहुः--ऋग्वेदस्य प्राथम्येन सर्वत्र आम्नातत्वाद् 'अभ्यर्हितं पूर्वम्' इति न्यायेन अभ्यर्हितत्वात् तद्व्याख्यानमादौ युक्तम्; प्राथम्यं च पुरुषसूक्ते विस्पष्टम्--

'तस्माद् यज्ञात् सर्वहुत ऋचः[1] सामानि[2] जज्ञिरे ।

---

1. ऋग्लक्षणं यथाह जैमिनिः--
'तेषामृग्यत्रार्थवशेन पादव्यवस्था' (मी० २।१।३५) 'यत्र पादकृता व्यवस्था स मन्त्र ऋङ्नामा' शबरस्वामी । 'पादेनार्थेन चोपेता वृत्तबद्धा मन्त्रा ऋचः' इति जैमिनीयन्यायमालायां माधवाचार्यः ।
2. सामलक्षणम्--'गीतिषु सामाख्या' (मी० २।१।३६) 'विशिष्टा काचिद्

छन्दांसि जज्ञिरे तस्माद् यजु'स्तस्मादजायत ॥' (ऋ. सं. १०।९०।९) इति

तस्मात् 'सहस्रशीर्षा पुरुषः' (ऋ० सं० १०।९०।१) इत्युक्तात् परमेश्वरात्, यज्ञाद् यजनीयात् पूजनीयात्। सर्व्वंहुतः सर्व्वैर्हूयमानात्। यद्यपि इन्द्रादयस्तत्र तत्र हूयन्ते तथापि परमेश्वरस्यैव इन्द्रादिरूपेणावस्थानादविरोधः।

तथा च मन्त्रवर्णः—

'इन्द्रं मित्रं वरुणमग्निमाहुरथो दिव्यः स सुपर्णो गरुत्मान्।
एकं सद् विप्रा बहुधा वदन्त्यग्निं यमं मातरिश्वानमाहुः॥'
(ऋ० सं० १।१६४।४६) इति

वाजसनेयिनश्चामनन्ति—

'तद् यद् इदमाहुरमुं यजामुं यजेत्येकैकं देवम्।
एतस्यैव सा विसृष्टिरेष उ ह्येव सर्व्वे देवाः' (बृ० उ० १।४।६) इति
तस्मात् सर्व्वैरपि परमेश्वर एव हूयते।

न केवलमृचां पाठप्राथम्येन अभ्यर्हितत्वं किन्तु यज्ञाङ्गदार्ढ्यहेतुत्वादपि। तथा च तैत्तिरीया आमनन्ति—

'यद् वै यज्ञस्य साम्ना यजुषा क्रियते शिथिलं तद्, यद् ऋचा तद् दृढम्' (तैः सं० ६।५।१०।३) इति।

तथा च सर्ववेदगतानि ब्राह्मणानि स्वाभिहितेऽर्थे विश्वासदार्ढ्याय 'तदेतद् ऋचा अभ्युक्तम्' इति ऋचमेव उदाहरन्ति। मन्त्रकाण्डेष्वपि यजुर्वेदगतेषु तत्र तत्र अध्वर्युणा प्रयोज्या ऋचो बहव आम्नाताः। साम्नां तु सर्व्वेषाम् ऋगाश्रितत्वं प्रसिद्धम्। आथर्वणिकैरपि स्वकीयसंहितायाम् ऋच एव बाहुल्येन अधीयन्ते। अतोऽन्यैः सर्वैर्वेदैरादृतत्वादभ्यर्हितत्वं प्रसिद्धम्।

छन्दोगाश्च प्राथम्ये सनत्कुमारं प्रति नारदवाक्यमेवमामनन्ति—

'ऋग्वेदं भगवोऽध्येमि यजुर्वेदं सामवेदमाथर्वणं चतुर्थम्' (छा० उ० ७।१।२) इति। मुण्डकोपनिषद्यपि एवमाम्नायते—

'ऋग्वेदो यजुर्वेदः सामवेदोऽथर्ववेदः' (मु० उ० १।१।५) इति।

गीतिः सामेत्युच्यते। प्रगीते हि मन्त्रवाक्ये सामशब्दमभियुक्ता उपदिशन्ति इति शबरस्वामी।

१. यजुर्लक्षणम्—'शेषे यजुःशब्दः' (मी० २।१।३७) 'या न गीतिर्न च पादबद्धं तत् प्रश्लिष्टपठितं यजुः' इति शबरस्वामी। 'वृत्तिगीतिवर्जितत्वेन प्रश्लिष्टपठिता मन्त्रा यजूंषि' इति जैमिनीयन्यायविस्तरे माधवाचार्यः।

तापनीयोपनिषद्यपि मन्त्रराजपादेषु क्रमेणाध्ययनमेवमामनन्ति—

'ऋग्यजुःसामाथर्वाणश्चत्वारो वेदाः साङ्गाः सशाखाश्चत्वारः पादा भवन्ति' (नृ० ता० उ० १।२) इति ।

एवं सर्व्वत्र उदाहरणीयम् । तस्माद् ऋग्वेदस्याभ्यर्हितस्यादौ व्याख्यानमुचितमिति ।

यज्ञानुष्ठानार्थत्वाद् यजुर्वेदस्यैवादौ व्याख्यानमित्युत्तरपक्षः ।

तान् प्रति एतदुच्यते—अस्तु एवं सर्व्ववेदाध्ययनतत्पारायणब्रह्मयज्ञजपादौ ऋग्वेदस्यैव प्राथम्यम् । अर्थज्ञानस्य तु यज्ञानुष्ठानार्थत्वात् तत्र तु यजुर्वेदस्यैव प्रधानत्वात् तद्व्याख्यानमेव आदौ युक्तम् ।

तत्प्राधान्यं च काचिदृगेव आह—

'ऋचां त्वः पोषमास्ते पुपुष्वान् गायत्रं त्वो गायति शक्वरीषु ।
ब्रह्मा त्वो वदति जातविद्यां यज्ञस्य मात्रां विमिमीत उ त्वः ॥'

(ऋ० सं० १०।७१।११) इति ।

एतस्या ऋचस्तात्पर्यं निरुक्तकारो यास्कः सङ्क्षिप्य दर्शयति 'इति ऋत्विक्कर्मणां विनियोगमाचष्टे' इति । पुनरपि स एव प्रथमं पादं विवृणोति—'ऋचामेकः पोषमास्ते पुपुष्वान् होतर्गर्चनी' (नि० १।८) इति । अस्यायमर्थः—त्वशब्दः एकशब्दपर्य्यायो होतृविशेषणम् । होतृनामक एक ऋत्विग् यज्ञकाले स्वकीयवेदगतानाम् ऋचां पुष्टिं कुर्व्वन्नास्ते । भिन्नप्रदेशेष्वाम्नातानाम् ऋचां सङ्घमेकत्र सम्पाद्यैतावदिदं शस्त्रमिति क्लृप्तिं करोति । सेयं पुष्टिः । अर्चनीत्यमुमर्थमृक्छब्द आचष्टे । अर्च्यते प्रशस्यतेऽनया देवविशेषः क्रियाविशेषस्तत्साधनविशेषो वेत्यृक्छब्दव्युत्पत्तिरिति ।

अथ द्वितीयं पादं विवृणोति—'गायत्रमेको गायति शक्वरीषूद्गाता । गायत्रं गायतेः स्तुतिकर्म्मणः शक्वर्यं ऋचः शक्नोतेस्तद् यदाभिर्वृत्रमशकद् हन्तुं तच्छक्वरीणां शक्वरत्वमिति विज्ञायते' इति । अस्यायमर्थः—उद्गातृनामक एक ऋत्विग् गायत्रशब्दाभिधेयं स्तोत्रं शक्वरीशब्दाभिधेयास्वृक्षु गायति, धातूनामनेकार्थत्वेन स्तुतिक्रियावाचिनो गायतिधातोरुत्पन्नोऽयं गायत्रशब्दः । शक्वरीशब्दस्तु शक्नोतिधातोरुत्पन्नः, वृत्रं शत्रुं हन्तुं शक्नोति आभिर्ऋग्भिरित्येषा व्युत्पत्तिः कस्मिंश्चिद् ब्राह्मणे विज्ञायत इति ।

अथ तृतीयं पादं विवृणोति—'ब्रह्मैको जाते जाते विद्यां वदति, ब्रह्मा सर्वविद्यः सर्वं वेदितुमर्हति' इति । अस्यायमर्थः—ब्रह्मनामक एक ऋत्विग् जाते

जाते तदा तदा उत्पन्ने यज्ञे प्रस्तुते प्रणयनादिकर्म्मणि विद्याम् अनुज्ञां वर्द्ध 'ब्रह्मन् अपः प्रणेष्यामि' इत्येवं सम्बोधितः सन् 'ओं प्रणय' इत्यनुजानाति। च ब्रह्मा वेदत्रयोक्तसर्व्वकर्म्माभिज्ञः। तस्माद् योग्यतां दृष्ट्वा तत्तदनुज्ञातुं प्रमादे समाधातुं च समर्थं इति। तच्च सामार्थ्यं छन्दोगा आमनन्ति—

'एष एव यज्ञस्तस्य मनश्च वाक् च वर्त्तनी। तयोरन्यतरां मनसा संस्करोति ब्रह्मा, वाचा होताऽध्वर्युरुद्गातान्यतराम्' (छां० उ० ४।१६।१-२) इति।

कृत्स्नो यज्ञः प्रमादराहित्याय मनसा सम्यगनुसन्धेयः, वाचा च वेदत्रयोक्त मन्त्राः पठनीयाः। तत्र होत्रादयस्त्रयो मिलित्वा वाग्रूपं यज्ञमार्गं संस्कुर्वन्ति, ब्रह्मा त्वेक एव मनोरूपं यज्ञमार्गं कृत्स्नमपि संस्करोति। तस्मादस्यास्ति सामर्थ्यमिति।

अथ चतुर्थं पादं विवृणोति—'यज्ञस्य मात्रां विमिमीत एकोऽध्वर्युरध्वर्युरध्वरयुरध्वरं युनक्ति अध्वरस्य नेता' इति। अस्यायमर्थः—अध्वर्युनामक ए ऋत्विग् यज्ञस्य मात्रां स्वरूपं विमिमीते विशेषेण निष्पादयति। मीयते निर्मीयते इति मात्रा स्वरूपम्। तन्निष्पादकत्वं च अध्वर्योर्नामनिर्वचनादवगम्यते। 'अध्वर्युः' इत्यत्र छान्दस्या प्रक्रियया लुप्तमकारं पुनः प्रक्षिप्य 'अध्वरयुः' इति नाम सम्पादनीयम्। अध्वरं युनक्ति इति अवयवार्थः। अध्वरस्य नेता इति तात्पर्यार्थं इति।

एतदेव अभिप्रेत्य अध्वर्युवेदस्य यागनिष्पादकत्वद्योतकं निर्वचनं यास्क दर्शयति—

'मन्त्रा मननात्, छन्दांसि छादनात्, स्तोमः स्तवनात् यजुर्यजतेः' (नि० ७।१२) इति।

एवं सति अध्वर्युसम्बन्धिनि यजुर्वेदे निष्पन्नं यज्ञशरीरमुपजीव्य तदपेक्षित स्तोत्रशस्त्ररूपौ अवयवौ इतरेण वेदद्वयेन पूर्य्येते इत्युपजीव्यस्य यजुर्वेदस्य प्रथमतो व्याख्यानं युक्तम्। तत ऊर्ध्वं साम्नामृगाश्रितत्वाद् उभयोर्मध्ये प्रथमत ऋग्व्याख्यानं युक्तम् इति ऋग्वेद इदानीं व्याख्यायते।

लक्षणप्रमाणराहित्याद् वेदस्यासद्भाव इति पूर्वपक्षः।

ननु वेद एव तावन्नास्ति, कुतस्तदवान्तरविशेष ऋग्वेदः? तथा हि, कोऽयं वेदो नाम? न हि तत्र लक्षणं प्रमाणं वाऽस्ति। न च तदुभयव्यतिरेकेण किञ्चिद् वस्तु प्रसिध्यति। 'लक्षणप्रमाणाभ्यां हि वस्तुसिद्धिः' इति न्यायविदां मतम्।

प्रत्यक्षानुमानागमेषु प्रमाणविशेषेषु अन्तिमो वेद इति तल्लक्षणमिति चेत

न, मन्वादिस्मृतिषु अतिव्याप्तेः । समयबलेन 'सम्यक्परोक्षानुभवसाधनम्' इत्येतस्य आगमलक्षणस्य तास्वपि सद्भावात् ।

'अपौरुषेयत्वे सति' इति विशेषणाददोष इति चेत् ? न, वेदस्यापि परमेश्वरनिर्मितत्वेन पौरुषेयत्वात् । शरीरधारिजीवनिर्मितत्वाभावाद् अपौरुषेयत्वमिति चेत् ? न, 'सहस्रशीर्षा पुरुषः' (ऋ० सं० १०।९०।१) इत्यादि श्रुतिभिरीश्वरस्यापि शरीरित्वात् ।

कर्म्मफलरूपशरीरधारिजीवनिर्मितत्वाभावमात्रेण अपौरुषेयत्वं विवक्षितमिति चेत् ? न, जीवविशेषैरग्निवाय्वादित्यैर्वेदानामुत्पादितत्वात् । 'ऋग्वेद एवाग्नेरजायत यजुर्वेदो वायोः सामवेद आदित्यात्' (ऐ० ब्रा० ५।३२) इति । श्रुतेः ईश्वरस्य अग्न्यादिप्रेरकत्वेन निर्मातृत्वं द्रष्टव्यम् ।

मन्त्रब्राह्मणात्मकः शब्दराशिर्वेद इति चेत् ? न, ईदृशो मन्त्र ईदृशं ब्राह्मणमित्यनयोरद्याप्यनिर्णीतत्वात् । तस्मान्नास्ति किञ्चिद् वेदस्य लक्षणम् ।

नापि तत्सद्भावे प्रमाणं पश्यामः । 'ऋग्वेदं भगवोऽध्येमि यजुर्वेदं सामवेदमाथर्वणं चतुर्थम्' (छां० उ० ७।१।२) इत्यादिवाक्यं प्रमाणमिति चेत् ? न, तस्यापि वाक्यस्य वेदान्तःपातित्वेन आत्माश्रयत्वप्रसङ्गात् । न खलु निपुणोऽपि स्वस्कन्धमारोढुं प्रभवति ।

'वेद एव द्विजातीनां निःश्रेयसकरः परः' (या० स्मृ० १।४०)

इत्यादि स्मृतिवाक्यं प्रमाणमिति चेत् ? न, तस्यापि उक्तश्रुतिमूलत्वेन निराकृतत्वात् ।

प्रत्यक्षादिकं तु शङ्कितुमपि अयोग्यम् । वेदविषया तु लोकप्रसिद्धिः सार्व्वजनीनापि 'नीलं नभः, इत्यादिवद् भ्रान्ता । तस्मात् लक्षणप्रमाणरहितस्य वेदस्य सद्भावो नाङ्गीकर्त्तुं शक्यते इति पूर्व्वः पक्षः ।

उत्तरपक्षत्वेन वेदसद्भावे लक्षणप्रमाणादिनिर्णयः । अत्रोच्यते—मन्त्रब्राह्मणात्मकत्वं तावद् दुष्टं लक्षणम् । अत एव आपस्तम्बो यज्ञपरिभाषामेवमाह—'मन्त्रब्राह्मणयोर्वेदनामधेयम्' (आप० परि० १।३३) इति । तयोस्तु स्वरूपमुपरिष्टात् निर्णेष्यते । अपौरुषेयवाक्यत्वमितीदमपि यादृशमस्माभिर्विवक्षितं तादृशमुत्तरत्र स्पष्टीभविष्यति । प्रमाणान्यपि यथोक्तश्रुतिस्मृतिलोकप्रसिद्धिरूपाणि वेदसद्भावे द्रष्टव्यानि । यथा घटपटादिद्रव्याणां स्वप्रकाशकत्वाभावेऽपि सूर्य्यचन्द्रादीनां स्वप्रकाशकत्वमविरुद्धम्, तथा मनुष्यादीनां स्वस्कन्धारोहासंभवेऽपि अकुण्ठितशक्तेर्वेदस्य इतरवस्तुप्रतिपादकत्ववत् स्वप्रतिपादकत्वमप्यस्तु । अत एव सम्प्रदायविदोऽ-

कुण्ठितां शक्तिं वेदस्य दर्शयन्ति—'चोदना हि भूतं भवन्तं भविष्यन्तं सूक्ष्मं व्यवहि विप्रकृष्टमित्येवं जातीयकमर्थं शक्नोति अवगमयितुम्' (शा० भा० १।१।२) इति तथा सति वेदमूलायाः स्मृतेस्तदुभयमूलाया लोकप्रसिद्धेश्च प्रामाण्यं दुर्वारम् । तस्मा लक्षणप्रमाणसिद्धो वेदो न केनापि चार्वाकादिना अपोढुं शक्यते इति स्थितम् ।

ननु अस्तु नाम वेदाख्यं कश्चित् पदार्थः, तथापि नासौ व्याख्यानमर्हा अप्रमाणत्वेन अनुपयुक्तत्वात् । न हि वेदः प्रमाणम्, तल्लक्षणस्य तत्र दुःसम्पा त्वात् । तथा हि—'सम्यगनुभवसाधनं प्रमाणम्' इति केचित् लक्षणमाहुः । अप तु 'अनधिगतार्थगन्तृ प्रमाणम्' इत्याचक्षते । न चैतदुभयं वेदे सम्भवति । मन्त्र ब्राह्मणात्मको हि वेदः । तत्र मन्त्राः केचिदबोधकाः ।

'अम्यक्सा त इन्द्र ऋष्टिः' (ऋ० सं० १।१६९।३) इत्येको मन्त्रः[1] ।

'यादृश्मिन् धायि तमपस्यया विदत्' (ऋ० सं० ५।१४।८) इत्यन्यः[2] ॥

'सृण्येव जर्भरी तुर्फरी तू' (ऋ० सं० १०।१०६।६) इत्यपरः[3] ।

---

१. अम्यक्सा त इन्द्र ऋष्टिरस्मे सनेम्यभ्वं मरुतो जुनन्ति ।
अग्निश्चिद्धि ष्मातसे शुशुक्वानापो न द्वीपं दधति प्रयांसि ॥

इति सम्पूर्णो मन्त्रः । तत्रत्यसायणभाष्यसङ्क्षेपः—हे इन्द्र ते सा प्रसिद्ध ऋष्टिः वज्रम् अस्मद्वृष्ट्यर्थम् अम्यक् प्राप्नोति मेघसमीपे । मरुतः सनेमि चि कालं संगृहीतम् अभ्वं जलं जुनन्ति क्षिपन्ति । वर्षन्तीत्यर्थः । अग्निः चित् अग्नि रपि । हि स्मेति पूरणे । अतसे सन्तते कर्मणि शुशुक्वान् दीप्यमानो वर्तते । प्रयांसि हवींषि दधति धारयन्ति यजमानाः । द्विपार्श्वस्थोदकवान् पर्वतादिर्द्वीपः । तं यथा आपो धारन्ति तद्वत् ॥

२. सम्पूर्णमन्त्रस्तु—

ज्यायांसमस्य यतुनस्य केतुन ऋषिस्वरं चरति यासु नाम ते ।
यादृश्मिन् धायि तमपस्यया विदत् य उ स्वयं वहते सो अरं करत् ॥

तत्रत्यसायणभाष्यसङ्क्षेपः-ज्यायांसम् अतिशयेन प्रवृद्धम् अस्य यतुनस्य गन्तुः सूर्यस्य केतुना उदयादिलक्षणेन प्रज्ञापकेन कर्मणा विशिष्टं ऋषिस्वरम् ऋषिभि स्तुत्यं यासु स्तुतिषु ते त्वदीयं नाम नमनं नामकं वा रूपं वर्तते । ताभिः त्वां चरति भजते यजमानः इत्यर्थः । यादृश्मिन् यादृशे कामे धायि धृतं मन इति शेषः तं कामम् अपस्यया हविःस्तुत्यादिलक्षणेन कर्मणा विदत् विन्दते । य उ य ए वहते धारयति फलं, सः अरम् अत्यर्थं करत् कुर्यात् ॥

३. सम्पूर्णमन्त्रस्तु

सृण्येव जर्भरी तुर्फरीतू नैतोशेव तुर्फरी पर्फरीका ।
उदन्यजेव जेमना मदेरू ता मे जराय्वजरं मरायु ॥

एवम् 'अपान्तमन्युस्तृपलप्रभर्म्मा'[1] (ऋ० सं० १०।८९।५) इत्यादय उदाहार्य्याः। न हि एतैर्मन्त्रैः कश्चिदप्यर्थोऽववुध्यते। एतेषु अनुभव एव यदा नास्ति तदा तत्सम्यक्त्वं तदीयसाधकत्वं च दूरापेतम्।

'अधस्विदासी३दुपरि स्विदासी३त्' (ऋ० सं० १०।१२९।५) इति मन्त्रस्य बोधकत्वेऽपि स्थाणुर्वा पुरुषो वा इत्यादिवाक्यवत् सन्दिग्धार्थबोधकत्वात् नास्ति प्रामाण्यम्।

'ओषधे त्रायस्वैनम्' (तै० सं० १।२।१।१) इति मन्त्रो दर्भविषयः (आश्व० गृ० १।१७।८)। 'स्वधिते मैनं हिंसीः' (तै० सं० १।२।१।१) इति क्षुरविषयः (आश्व० गृ० १।१७।९)। 'शृणोत ग्रावाणः' (तै० सं० १।३।१३।१) इति पाषाणविषयः। एतेषु अचेतनानां दर्भक्षुरपाषाणानां चेतनवत् सम्बोधनं श्रूयते। ततो 'द्वौ चन्द्रमसौ' इति वाक्यवद् विपरीतार्थबोधकत्वादप्रामाण्यम्। 'एक एव रुद्रो न द्वितीयायतस्थे' (तै० सं० १।८।६।१), 'सहस्राणि सहस्रशो ये रुद्रा अधि भूम्याम्' (तै० सं० ४।५।११।१) इत्यनयोस्तु मन्त्रयोः 'यावज्जीवमहं, मौनी' इति वाक्यवद् व्याघातबोधकत्वादप्रामाण्यम्।

'आप उन्दन्तु' (तै० सं० १।२।१।१) इति मन्त्रो यजमानस्य क्षौरकाले

तत्रत्यसायणभाष्यसंक्षेपः—सृण्याविव सृणिः अङ्कुशः तत्र साधुरिति यद् अङ्कुशार्हौ मत्तगजाविव तुर्फरी शत्रूणां हन्तारौ। नितोशस्य वधकर्तुः अपत्यं नैतोशः ताविव तुर्फरी हन्तारौ पर्फरीकौ शत्रूणां विदारयितारौ। उदन्यजे इव उदकजातौ इव निर्मलौ कान्तियुक्तौ। जेमना जेमनौ जयशीलौ। मदेरू बलातिशयेन मत्तौ ता तावश्विनौ युवां मे मदीयं जरायु जरायुजम् अतएव मरायु मरणशीलं शरीरम् अजरं जरारहितं कुरुतम्॥

[1] सम्पूर्णमन्त्रस्तु—

अपान्तमन्युस्तृपलप्रभर्मा धुनिः शिमीवाञ्छरुमाँ ऋजीषी।
सोमो विश्वान्यतसा वनानि नार्वागिन्द्रं प्रतिमानानि देभुः॥

तत्रत्यं सायणभाष्यम्—आपान्तमन्युः आपातितमन्युः तृपलप्रभर्मा ग्रावादिभिः क्षिप्रप्रहारी धुनिः शत्रूणां कम्पयिता शिमीवान् कर्मवान् शरुमान् आयुधमान् ऋजीषी ऋजीषवान् सोमो विश्वानि सर्वाणि अतसा अतसमयानि वनानि अरण्यानि वर्धयतीति शेषः। प्रतिमानानि प्रतिमानभूतानि समानद्रव्याणीत्यर्थः। इन्द्रम् अर्वाक् देभुः दभ्नोतिरत्रापकर्षणकर्मा। तुलया मीयमानानि आत्माभिमुखतया नाकर्षयन्ति लघूनि भवन्तीत्यर्थः। अन्यत्र प्रतिनिधीयमानानि गुरूणि तानि आत्माभिमुखमाकर्षन्ति नैवमिन्द्रं कुर्वन्तीति सर्वेभ्यो महानिन्द्र इत्यर्थः। त्रयः पादाः सौम्याः तुरीयस्त्वैन्द्रः। यास्केनापि निरुक्ते व्याख्यातोऽयं मन्त्रः (नि० ५।१२)॥

जलेन शिरसः क्लेदनं ब्रूते। 'शुम्भिके शिर आरोह शोभयन्ती मुखं मम' (आप० मं० पा० २।८।६) इति मन्त्रो विवाहकाले मङ्गलाचरणार्थं पुष्पनिर्मितायाः शुम्भिकायाः वरवध्वोः शिरसि अवस्थानं ब्रूते। तयोश्च मन्त्रयोर्लोकप्रसिद्धार्थानुवादित्वाद् अनधिगतार्थगन्तृत्वं नास्ति। तस्मान् मन्त्रभागो न प्रमाणम्। अत्रोच्यते—

अम्यगादिमन्त्राणामर्थो यास्केन निरुक्तग्रन्थेऽवबोधितः। तत्परिचयरहितानामनवबोधो न मन्त्राणां दोषमावहति। अत एव अत्र लौकिकं न्यायमुदाहरन्ति—'नैष स्थाणोरपराधो यदेनमन्धो न पश्यति, पुरुषापराधः स भवति' (नि० १।१६) इति।

'अधः स्विदासीत्' इति मन्त्रश्च न सन्देहप्रबोधनाय प्रवृत्तः। किं तर्हि? जगत्कारणस्य परवस्तुनोऽतिगम्भीरत्वं निश्चेतुमेव प्रवृत्तः। तदर्थमेव हि गुरुशास्त्रसम्प्रदायरहितैर्दुर्बोधत्वम् 'अधः स्वित्' इत्यनया वचोभङ्गया उपन्यस्यति। स एवाभिप्राय उपरितनेषु 'को अद्धा वेद' (ऋ० सं० १०।१२९।६) इत्यादिमन्त्रेषु स्पष्टीकृतः।

ओषध्यादिमन्त्रेष्वपि चेतना एव तत्तदभिमानिदेवतास्तेन तेन नाम्ना सम्बोध्यन्ते। ताश्च देवता भगवता बादरायणेन 'अभिमानिव्यपदेशस्तु०' (ब्र० सू० २।१।५) इति सूत्रे[1] सूत्रिताः।

एकस्यापि रुद्रस्य स्वमहिम्ना सहस्रमूर्त्तिस्वीकारान् नास्ति परस्परव्याघातः।

जलादिद्रव्येण शिरःक्लेदनादेर्लोकप्रसिद्धत्वेऽपि तदभिमानिदेवतानुग्रहस्य अप्रसिद्धत्वात् तद्विषयत्वेन अज्ञातार्थज्ञापकत्वम्।

ततो लक्षणसद्भावादस्ति मन्त्रभागस्य प्रामाण्यम्। एतदेवाभिप्रेत्य भगवान् जैमिनिर्मन्त्राधिकरणे मन्त्राणां विवक्षितार्थत्वमसूत्रयत् (जै० सू० १।२।३१—४५)। तानि च सूत्राणि क्रमेण उदाहृत्य व्याख्यास्यामः। तत्र पूर्वपक्षं सूत्रयति—

'तदर्थशास्त्रात्' (जै० १।२।३१) इति।

यस्यार्थस्य अभिधाने समर्थो मन्त्रः, स एव अभिधेयो यस्य शास्त्रस्य ब्राह्मण-

---

१. (सम्पूर्णसूत्रं) तु 'अभिमानिव्यपदेशस्तु विशेषानुगतिभ्याम्'। 'न खलु मृदब्रवीदित्येवञ्जातीयकया श्रुत्या भूतेन्द्रियाणां चेतनत्वमाशङ्कनीयं यतोऽभिमानिव्यपदेश एषः। मृदाद्यभिमानिन्यो वागाद्यभिमानिन्यश्च चेतना देवता वदनसंवदनादिषु चेतनोचितेषु व्यवहारेषु व्यपदिश्यन्ते न भूतेन्द्रियमात्रम्।' इति तत्रत्यं शाङ्करभाष्यम्।

वाक्यस्य, तदिदं वाक्यं तदर्थशास्त्रम् । तस्मात् शास्त्राद् अविवक्षितार्थो मन्त्र इत्यवगम्यते । तथा हि—'उरु प्रथस्व' (तै० सं० १।१।८। वा० सं० १।२२) इति मन्त्रेण पुरोडाशप्रथनमभिधीयते 'पुराडाशं प्रथयति' (तै० ब्रा० ३।२।८।४ श० ब्रा० १।२।२।८) इति ब्राह्मणेनापि तदेवाभिधीयते । तथा सति मन्त्रेणैव प्रतीतत्वात् तदर्थबोधनाय प्रवृत्तं ब्राह्मणमनर्थकं स्यात् । मन्त्रस्य अविवक्षितार्थत्वे तु विनियोगबोधनाय ब्राह्मणमुपयुक्तम् । तस्मान् मन्त्रा उच्चारणेनैव अनुष्ठाने उपकुर्वन्ति ।

ननु उच्चारणार्थत्वे सति अदृष्टं प्रयोजनं परिकल्प्येत । अर्थाभिधायकत्वे तु दृष्टं लभ्यते । तस्माद् ब्राह्मणस्य अनुवादकत्वमभ्युपेत्यापि मन्त्रस्य अभिधानार्थत्वमेव इत्याशङ्क्य उत्तरं सूत्रयति—

'वाक्यनियमात्' (जै० १।२।३२) इति ।

'अग्निर्मूर्द्धा दिवः ककुद्' (ऋ० सं० ८।४४।१६) इत्येवमेव वाक्यं पठितव्यमिति मन्त्रे नियम उपलभ्यते । अर्थप्रत्यायनं तु मूर्द्धाग्निरित्येवं व्युत्क्रमपाठेऽपि भवत्येव । तस्मात् नियतपाठक्रमसाफल्यायोच्चारणमेव मन्त्रप्रयोजनम् ।

ननु पाठक्रमनियममात्रस्य अदृष्टार्थत्वेऽपि मन्त्रपाठोऽर्थबोधाय एव इत्याशङ्क्य तत्र दोषान्तरं सूत्रयति—

'बुद्धशास्त्रात्' (जै० १।२।३३) इति ।

'अग्नीदग्नीन् विहर' (तै० सं० ६।३।१।२) इति प्रैषमन्त्रः प्रयोगकाले पठ्यते । तच्च अग्निविहरणादिकं आग्नीध्रेण अध्ययनकाले एव स्वकर्त्तव्यत्वेन बुद्धम् । तस्य च बुद्धस्य अर्थस्य पुनर्मन्त्रोच्चारणेन शासनमनर्थकम् । न हि सोपानत्के पादे पुनरपि उपानहं प्रतिमुञ्चति ।

ननु बुद्धस्य अपि अर्थस्य प्रामादिकविस्मरणपरिहाराय मन्त्रेण स्मारणमस्तु इत्याशङ्क्य द.षान्तरं सूत्रयति—

'अविद्यमानवचनात्' (जै० १।२।३४) इति ।

'चत्वारि शृङ्गा त्रयो अस्य पादा,
द्वे शीर्षे सप्तहस्तासो अस्य' (ऋ० सं० ४।५८।३)

इति मन्त्र आम्नायते । न खलु चतुःशृङ्गत्वाद्युपेतं किञ्चिद् यज्ञसाधनं विद्यते यन्मन्त्रपाठेन अनुस्मर्य्येत ।

ननु ईदृशी काचिद् देवता स्यादित्याशङ्क्य अन्यं दोषं सूत्रयति—

'अचेतनेऽर्थबन्धनात्' (जै० १।२।३५) इति ।

'ओषधे त्रायस्वैनम्', 'शृणोत ग्रावाणः' इत्यादावचेतने द्रव्ये चेतनोचितरक्षण-श्रवणाद्यर्थं बध्नाति । स चायुक्तः ।

ननु अभिमानिव्यपदेश इति वैयासिकशास्त्रे सूत्रितत्वात् ओषध्याद्यभिमानिचेतनदेवता अत्र विवक्ष्यतामित्याशङ्क्य दोषान्तरं सूत्रयति—

'अर्थविप्रतिषेधात्' (जै० १।२।३६) इति ।

'अदितिर्द्यौरदितिरन्तरिक्षम्' (ऋ० सं० १।८९।१०) इति मन्त्रः आम्नायते । यदेव द्यौस्तदेव अन्तरिक्षमित्ययमर्थो विप्रतिषिद्धः । एवम् 'एक एव रुद्रः' (तै० सं० १।८।६।१), 'सहस्राणि सहस्रशो ये रुद्राः' (तै० सं० ४।५।११।१) इत्यादिकमपि उदाहर्त्तव्यम् ।

ननु 'त्वमेव माता च पिता त्वमेव' इत्यादिवद् अन्तरिक्षादिरूपत्वेन अदितिः स्तूयते । एवमेकस्यापि रुद्रस्य योगसामर्थ्याद् बहुमूर्तिस्वीकारोऽस्तु । ततो नार्थविप्रतिषेध इत्याशङ्क्य दोषान्तरं सूत्रयति—

'स्वाध्यायवदवचनात्' (जै० ।१।२।३७) इति ।

पूर्णिका नाम काचिद् योषिदवघातं करोति । तत्समीपे माणवकः स्वाध्यायग्रहणार्थं कदाचिदवघातमन्त्रमधीते । न च तस्य अर्थप्रकाशनविवक्षा अस्ति । प्रतिमुसलप्रहारं तस्य मन्त्रस्य अपठ्यमानत्वाद् । अक्षरग्रहणायैव तं मन्त्रमन्यांश्च मन्त्रान् अभ्यस्यति । तत्र स्वाध्यायकाले पठितोऽपि अवघातमन्त्रो यथा पूर्णिकां प्रति स्वार्थं न ब्रूते, तथा कर्म्मकालेऽपि स्वार्थं न वक्ष्यति ।

ननु तत्र माणवकस्य अर्थे विवक्षा नास्ति । पूर्णिकापि अवबोद्धुमक्षमा । कर्म्मणि तु अध्वर्योरर्थविवक्षा विद्यते, बोधश्च सम्भवति इत्याशङ्क्य दोषान्तरं सूत्रयति—

'अविज्ञेयात्' (जै० १।२।३८) इति ।

केषाञ्चिन्मन्त्राणामर्थो विज्ञातुं न शक्यते । तद् यथा—'अम्यक् सा त इन्द्र ऋष्टिरस्मे' इत्येको मन्त्रः । 'सृण्येव जर्भरी तुर्फरीतू' इत्यपरो मन्त्रः ।

ननु ईदृशमन्त्रार्थबोधाय एव निगमनिरुक्तव्याकरणानि प्रवृत्तानि इत्याशङ्क्य दोषान्तरं सूत्रयति—

'अनित्यसंयोगात् मन्त्रानर्थक्यम्' (जै० १।२।३९) इति ।

'किं ते कृण्वन्ति कीकटेषु' (ऋ० सं० ३।५३।१४) इति मन्त्रे कीकटो नाम जनपद आम्नातः । तथा नैचाशाखं नाम नगरं प्रमगन्दो नाम राजा इत्येते

अर्था अनित्या आम्नाताः । तथा च सति प्राक् प्रमगन्दात् नायं मन्त्रो भूतपूर्व इति गम्यते ।

तदेवमेतैस्तदर्थशास्त्रादिभिर्हेतुभिर्मन्त्राणामर्थप्रत्यायनार्थत्वं नास्ति किन्तु उच्चारणाददृष्टार्था एव इति पूर्वपक्षः ।

तत्र सिद्धान्तं सूत्रयति—

'अविशिष्टस्तु वाक्यार्थः' (जै० १।२।४०) इति ।

'तु' शब्देन मन्त्राणामदृष्टार्थमुच्चारणमात्रं वारयति । क्रियाकारकसम्बन्धेन प्रतीयमानो वाक्यार्थो लोकवेदयोरविशिष्टः । तथा सति यथा लोके अर्थप्रत्यायनायैव वाक्यमुच्चार्य्यते तथा वैदिके यागप्रयोगेऽपि द्रष्टव्यम् । मन्त्रेण प्रकाशितस्तु अर्थोऽनुष्ठातुं शक्यते, न तु अप्रकाशितः । तस्मात् मन्त्रोच्चारणस्य अर्थप्रकाशन-रूपं दृष्टमेव प्रयोजनम् ।

ननु 'अभ्रिरसि नारिरसि' (वा० सं० ११।१०) इत्यारभ्य त्रैष्टुभेन त्वा छन्दसा ददे' (तै० सं० ४।१।१।३-४) इति मन्त्र आम्नातः । तेनैव मन्त्रेण प्रतीतेऽपि अभ्र्यादाने, पुनर्ब्राह्मणे 'तां चतुर्भिरभ्रिमादत्ते' (तै० सं० ५।१।१।४) इति विधीयते । (श० ब्रा० ६।३।१।३९) । तदेतद् विधानं त्वत्पक्षे व्यर्थं स्यादित्याशङ्क्य उत्तरं सूत्रयति—

'गुणार्थेन पुनः श्रुतिः' (जै० १।२।४१) इति मन्त्रेण प्रतीतस्यैव अर्थस्य ब्राह्मणे यत् पुनःश्रवणं तदेतच्चतुःसंख्यालक्षणगुणविधानार्थत्वेन उपयुज्यते । एतस्य विधानस्य अभावे चतुर्णां मन्त्राणां मध्ये येन केनाप्येकेन अभ्रिरादीयेत ।

ननु 'इमामगृभ्णन् रशनामृतस्य' (वा० सं० २२।२) 'इत्यश्वाभिधानीमादत्ते' (तै० सं० ५।१।२।१) इत्यत्र मन्त्रसामर्थ्यादेव प्राप्तस्य रशनादानस्य पुनर्ब्राह्मण-वाक्यं (श० ब्रा० १३।१।८।१) विनियोजकमाम्नायते । तदेतत् त्वन्मते व्यर्थ-मित्याशङ्क्य उत्तरं सूत्रयति—

'परिसंख्या[1]' (जै० १।२।४२) इति ।

---

१. परिसंख्यालक्षणम्—

विधिरत्यन्तमप्राप्ते नियमः पाक्षिके सति ।
तत्र चान्यत्र च प्राप्ते परिसंख्येति कीर्त्यते ॥

परिसंख्यादोषाः—

श्रुतार्थस्य परित्यागादश्रुतार्थप्रकल्पनात् ।
प्राप्तस्य बाधादित्येवं परिसंख्या त्रिदूषणा ॥

'गर्दभाभिधानीं' नादत्ते' इति निषेधः परिसंख्या। तदर्थमिदं ब्राह्मणवाक्यम्।

ननु परिसंख्यायां त्रयो दोषाः प्राप्नुयुः—'आदत्ते' इति शब्दो रशनादान-लक्षणं स्वार्थं जह्यात्। तन्निषेधलक्षणः परार्थोऽस्य शब्दस्य कल्प्येत, रशनात्वसा-मान्येन च प्राप्तं गर्दभरशनाया आदानं बाध्येत इति त्रयो दोषाः। मैवम्, गर्दभरशनाया अप्राप्तत्वात्। तथा हि—तत्पक्षे प्रकरणपाठान्यथानुपपत्त्या मन्त्रेणानेन आदानं कुर्य्यादिति वाक्यं परिकल्प्यते। तेन च वाक्येन मन्त्रादानयोः सम्बन्धे सिद्धे सति पश्चात् किंविषयकमादानमिति वीक्षायां लिङ्गाद् रशनामात्रस्य आदानमुपेत्य गर्दभरशानायाः प्राप्तिर्वक्तव्या। सा च विलम्ब्यते। 'इति अश्वा-भिधानीम्' इति प्रत्यक्षेण वाक्येन मन्त्रादानयोः सम्बन्धे सति लिङ्गाद् रशनामात्रे प्राप्तमादानम् 'अश्वाभिधानीम्' इति श्रुत्या विशेषे व्यवस्थाप्यते। ततो मन्त्रस्य निराकाङ्क्षत्वाद् गर्दभरशनाया अप्राप्तत्वान् नास्ति प्राप्तबाधः। अत एव निषेधार्थो न कल्प्यते, विध्यर्थश्च न त्यज्यते। तत्र कुतो दोषत्रयम्? ईदृशम् अप्राप्तिरूपमेव गर्दभरशनाया निवारणमभिप्रेत्य 'परिसंख्या' इति सूत्रितम्।

ननु 'उरु प्रथस्व इति प्रथयति' इति ब्राह्मणस्य वैयर्थ्यं तदवस्थमेव इत्याशङ्क्य उत्तरं सूत्रयति—

'अर्थवादो वा' (जै० १।२।४३) इति।

वाशब्दो वैयर्थ्यं वारयति। अस्त्यत्र अर्थवादः 'यज्ञपतिमेव तत् प्रथयति' इति तेन अर्थवादेन सम्बन्धाय ब्राह्मणे विधिः पठ्यते।

ननु प्रथयति इत्यनेनैव विधिशब्देन प्रथनमनूद्य 'यज्ञपतिमेव' इत्यादिना अर्थवादेन स्तोतव्यम्। तदेव तु प्रथनं कुतः प्राप्तमित्याशङ्क्य उत्तरं सूत्रयति—

'मन्त्राभिधानात्' इति। अध्वर्युः पुरोडाशमुद्दिश्य मन्त्रे 'प्रथस्व' इत्येवम-भिधत्ते। तस्मादभिधानाद् अध्वर्युकर्त्तृकं प्रथनं प्राप्तम्। यथा, लोके यः कुरु ब्रूते स कारयत्येव, तथा तत्रापि यः प्रथस्व इति ब्रूते स प्रथयत्येव[1]।

यदुक्तम्, 'अग्निर्मूर्द्धा दिवः' (ऋ० सं० ८।४४।१६) इति पाठक्रमनिय-माद् अदृष्टार्थो मन्त्र इति, तत्र उत्तरं सूत्रयति—

---

१. 'ननु नायं मन्त्रस्य वाक्यशेषः, न च प्राप्तस्य स्तुत्या प्रयोजनम्? सत्यम्, नायं मन्त्रस्य विधिः, न संस्तवः, प्रथममेव तत्र स्तूयते; मन्त्रः पुनः रूपादेव प्राप्त इहानूद्यते प्रथनं स्तोतुम्। इत्थं प्रथनं प्रशस्तं, यत् क्रियमाणमेवंरूपेण मन्त्रेण क्रियते। कस्तदा भवति गुणः? यज्ञपतिमेव तत् प्रजया पशुभिः प्रथयति। किमेतावदेवास्य फलं भवति? नेति ब्रूमः। स्तुतिः फलं भविष्यतीति एवमुच्यते। कथमसति प्रथयतीति शब्दः? मन्त्राभिधानात्' इति तत्रत्यं शाबरभाष्यम्।

'अविरुद्धं परम्' (जै० १।२।४४) इति ।

परं द्वितीयसूत्रोक्तमस्मत्पक्षेऽपि अविरुद्धम् । न हि वयं पाठक्रमनियमाद् अदृष्टं निवारयामः । किं तर्हि ? मन्त्रोच्चारणेन जायमानमर्थप्रत्यायनं दृष्टप्रयोजनत्वात् न उपेक्षितव्यम् इत्येतावदेव ब्रूमः ।

ननु 'प्रोक्षणीरासादय' (वा० सं० १।२८) इति मन्त्रो वृद्धमेव अर्थं शास्ति तद् अयुक्तम् । सोपानत्कस्य उपानदन्तरासम्भवात् इत्युक्तमिति चेत् ? तस्य परिहारं सूत्रयति—

'संप्रैषकर्मणो गर्हानुपलम्भः संस्करत्वात्' (जै० १।२।४५) इति ।

संप्रैषकर्म्मणो गर्हा त्वदुक्तदोषो न उपलभ्यते । वृद्धस्याप्यर्थस्य मन्त्रेणैव अनुस्मरणे सति नियमादृष्टलक्षणस्य संस्कारस्य सद्भावात् ।

यच्चोक्तं, चत्वारि शृङ्गाः' (ऋ० सं० ४।५८।३) इति मन्त्रोऽसन्तमेव अर्थमभिधत्त इति तस्य उत्तरं सूत्रयति—

'अभिधानेऽर्थवादः' (जै० १।२।४६) इति ।

असतोऽर्थस्य अभिधायके वाक्ये गौणस्य अर्थस्य उक्तिर्द्रष्टव्या । तद् यथा— चत्वारो होत्रध्वर्यूद्गातृब्रह्माणोऽस्य कर्म्मणः शृङ्गाणि, प्रातःसवनादयस्त्रयः पादाः, पत्नीयजमानौ द्वे शीर्षे, गायत्र्यादीनि सप्त छन्दांसि हस्ताः, ऋग्वेदादिभिस्त्रिभिर्वेदैस्त्रेधा बन्धनम् । कामान् वर्षति इति वृषभः, रोरवीति स्तोत्रशस्त्रादिशब्दान् पुनः पुनः करोति, महो देवः सोऽयं प्रौढो यज्ञरूपो, देवः मर्त्यान् आविवेश इति मनुष्या एव अत्राधिकारिणः । लोकेऽपि एवं गौणप्रयोगा दृश्यन्ते—'चक्रवाकस्तनी, हंसदन्तावली, काशवस्त्रा, शैवालकेशिनी' इत्येवं नद्याः स्तूयमानत्वात् । एवम् 'ओषधे त्रायस्व', 'शृणोत ग्रावाणः' इत्याद्यचेतनसम्बोधनानि स्तुतिपरत्वेन योजनीयानि । यस्मिन् वपने ओषधिरपि त्रायते तत्र वपनकर्त्ता त्रायत इति किमु वक्तव्यम् । तथा ग्रावाणोऽपि प्रातरनुवाकं शृण्वन्ति किमुत विद्वांसो ब्राह्मणा इत्यादि आमन्त्रणाभिप्रायः ।

योऽपि, 'अदितिर्द्यौरदितिरन्तरिक्षम्' (ऋ० सं० १।८।९।१०) इति विप्रतिषेध उक्तः, तस्य उत्तरं सूत्रयति—

'गुणादविप्रतिषेधः स्यात्' (जै० १।२।४७) इति ।

यथा 'त्वमेव पिता त्वमेव माता' इत्यत्र गौणप्रयोगाद् अविरोधस्तद्वत् । एवमेकरुद्रदेवत्ये कर्म्मणि एको रुद्रः शतरुद्रदेवत्ये शतं रुद्रा इति अविरोधः ।

यदप्युक्तं, स्वाध्यायमधीयानो माणवकः पूर्णिकायाः अवहन्ति न प्रकाशयितुमिच्छतीति, तत्र उत्तरं सूत्रयति—

'विद्यावचनसंयोगात्' (जै० १।२।४८) इति।

वेदविद्याग्रहणकालेऽर्थस्य यदवचनं तदयज्ञसंयोगादुपपद्यते। न हि पूर्णिकाया अवघातो यज्ञसंयुक्तः, नापि माणवको यज्ञमनुतिष्ठति, अतो यज्ञानुपकारात् न तत्र अर्थविवक्षा।

यदुप्युक्तम्, 'अम्यक् सा त इन्द्र', 'सृण्येव जर्भरी तुर्फरीतू' इत्यादौ अर्थस्य ज्ञातुमशक्यत्वात् नास्त्येवार्थं इति तत्र उत्तरं सूत्रयति—

'सतः परमविज्ञानम्' (जै० १।२।४६) इति।

विद्यमान एव अर्थः प्रमादालस्यादिभिर्न विज्ञायते। तेषां निगम–निरुक्त–व्याकरणवशेन धातुतोऽर्थः परिकल्पयितव्यः। तद् यथा—'जर्भरी तुर्फरीतू' इत्येवमादीनि अश्विनोरभिधानानि; तेषु हि द्विवचनान्तत्वं लक्ष्यते। आश्विनं चेदं सूक्तम्, 'अश्विनोः काममप्राः' (ऋ० सं० १०।१०।६।११) इति दर्शनात्। एतदेव अभिप्रेत्य निरुक्तकारो व्याचष्टे 'जर्भरी भर्त्तारौ इत्यर्थः' 'तुर्फरीतू हन्तारौ इत्यर्थः' (नि० १३।५) इति। एवम् 'अम्यक्सा ते' इत्यादावपि उन्नेयम्।

यदप्युक्तं, प्रमगन्दाद्य (ऋ० ३।५३।१४) नित्यार्थसंयोगान् मन्त्रस्य अनादित्वं न स्याद् इति, तत्र उत्तरं सूत्रयति—

'उक्तश्च अनित्यसंयोगः' (जै० १।२।५०) इति।

प्रथमपादस्य अन्तिमाधिकरणे सोऽयमनित्यसंयोगदोष उक्तः परिहृतः। तथा हि—तत्र पूर्वपक्षे वेदानां पौरुषेयत्वं वक्तुं काठकं कालापकमित्यादि पुरुषसम्बन्धाभिधानं हेतूकृत्य—

'अनित्यदर्शनाच्च' (जै० सू० १।१।२८) इति हेत्वन्तरं सूत्रितम्।

तस्यायमर्थः—'बबरः प्रावाहणिरकामयत' (तै० सं० ७।१।१०।२) इति अनित्यानां बबरादीनामर्थानां दर्शनाद् ततः पूर्वम् असत्त्वात् पौरुषेयो वेद इति, तस्योत्तरमेवं सूत्रितम्–'परं तु श्रुतिसामान्यमात्रम्' (जै० सू० १।१।३१) इति। तस्यायमर्थः—यत् काठकादिसमाख्यानं तत् प्रवचननिमित्तम्। यत्तु परं बबराद्यनित्यदर्शनं तत् शब्दसामान्यमात्रम्। न तु तत्र अनित्यो बबराख्यः कश्चित् पुरुषो विवक्षितः, किन्तु बबरः इति शब्दानुकृतिः। तथा सति बबर इति शब्दं कुर्व्वन् वायुरभिधीयते; स च प्रावाहणिः प्रकर्षेण वहनशीलः।

एवमन्यत्रापि ऊहनीयम् । तदेवं कस्यचिदपि दोषस्य असम्भवाद् विवक्षितार्था मन्त्राः स्वार्थप्रकाशनार्थैव प्रयोक्तव्याः ।

ननु अर्थप्रकाशनार्थत्वे सति दृष्टं प्रयोजनं लभ्यते इति युक्तिमात्रम् इदमुच्यते । न तु एतदुपोद्वलकं किञ्चिच्छ्रौतं लिङ्गं पश्यामः इत्याशङ्क्य उत्तरं सूत्रयति—

'लिङ्गोपदेशश्च तदर्थवत्' (जै० १।२।५१) इति ।

'आग्नेय्याग्नीध्रमुपतिष्ठेत' इति श्रूयते । तस्यायमर्थः—अग्निर्देवता यस्या ऋचः सेयम् आग्नेयी, तया आग्नीध्रस्थानम् उपतिष्ठेत इति । अत्र हि उपस्थानमुपदिशद् 'ब्राह्मणम् 'अग्ने नय' (ऋ० सं० १।१८९।१) इत्यनया 'उपतिष्ठेत' इति मन्त्रप्रतीकं पठित्वा नोपदिशति, किन्तु आग्नेयीत्वलिङ्गेन उपदिशति । यदा यस्यामृचि अग्निः प्राधान्येन प्रतिपाद्यते तदा तस्या ऋचोऽग्निर्देवता भवति । तथा सति आग्नेय्या इति देवतावाचितद्धितान्तनिर्देश उपपद्यते । तस्मादयमुपदेशस्तन्मन्त्रवाक्यार्थवदिति बोधयति । अतो विवक्षितार्थत्वाद् अर्थप्रत्यायनार्थं प्रयोगकाले मन्त्रोच्चारणम् ।

तस्मिन् एव विवक्षितार्थत्वे लिङ्गान्तरं सूत्रयति—

'ऊहः' (जै० १।२।५२) इति ।

प्रकृतावाम्नातस्य मन्त्रस्य विकृतौ समवेतार्थत्वाय तदुचितपदान्तरस्य प्रक्षेपेण पाठः ऊहः । तद् यथा—'अन्वेनं माता मन्यतामनु पितानु भ्राता' (तै० ब्रा० ३।६।६१) इति प्राकृतः पशुविषयो मन्त्रपाठः (मै० सं० ४।१३।४) । तस्य च मन्त्रस्य विकृतौ पशुद्वये सति 'अन्वेनौ माता मन्यताम्' इत्यूहः । पशुवहुत्वे सति 'अन्वेनान् माता मन्यताम्' इत्यूहः कर्त्तव्यः । एतन्मन्त्रव्याख्यानरूपं ब्राह्मणमेवमाम्नायते—'न माता वर्द्धते न पिता' इति । तत्रेदं चिन्तनीयम्, किमत्र शरीरवृद्धिर्निषिध्यते, आरोहस्विच्छब्दवृद्धिरिति । एकवचनान्तस्य मातृशब्दस्य मातराविति द्विवचनान्तत्वेन वा, मातरः इति बहुवचनान्तत्वेन वा प्रयोगः शब्दवृद्धिः । तत्र न तावच्छरीरवृद्धिर्निषेद्धुं शक्यते, बाल्यकौमारयौवनादिवयोऽनुसारेण तद्वृद्धेः प्रत्यक्षत्वात् । अतः शब्दवृद्धिनिषेध एव परिशिष्यते । मातृशब्दपितृशब्दयोर्विशेषाकारेण वृद्धिनिषेधात् इतरस्य एनमिति शब्दस्य अर्थानुसारिणी वृद्धिः सूचिता भवति । तत्र यद्यर्थो न विवक्ष्येत तथा पशुद्वित्वे द्विवचनं पशुबहुत्वे बहुवचनं च कथमूह्येत ? तस्माद् विवक्षितार्था मन्त्राः ।

तस्मिन् एव अर्थे लिङ्गान्तरं सूत्रयति—

'विधिशब्दाच्च' (जै० १।२।५३) इति ।

मन्त्रव्याख्यानरूपो ब्राह्मणगतः शब्दो विधिशब्दः इति उच्यते। स चैवमाम्नायते—'शतं हिमाः शतं वर्षाणि जीव्याः स्म इत्येव एतदाह' (श० ब्रा० २।३।४।२१) इति। तत्र 'शतं हिमा' इत्येतद् व्याख्येयमन्त्रस्य प्रतीकम्, अवशिष्टं तु तस्य तात्पर्यव्याख्यानम्। मन्त्रस्य अविवक्षितार्थत्वे तु किं नाम तात्पर्य्यं मन्त्रे व्याख्यायेत। तस्माद् विवक्षितार्था मन्त्राः प्रयोगकाले स्वार्थप्रकाशनायैव उच्चारयितव्याः।

तत्र संग्रहश्लोकौ—

मन्त्रा उरु प्रथस्वेति किमदृष्टैकहेतवः।
यागेषूत पुरोडाशप्रथनादेश्च भासकाः॥
ब्राह्मणेनापि तद्भानान्मन्त्राः पुण्यैकहेतवः।
न, तद्भानस्य दृष्टत्वाद् दृष्टं वरमदृष्टतः॥ (जै० न्या० १।३।४) इति।

ननु अस्तु मन्त्रभागस्य प्रामाण्यम्; ब्राह्मणभागस्य तु न तद् युज्यते। तथा हि, द्विविधं ब्राह्मणम्—विधिरर्थवादश्चेति। तथा च आपस्तम्बः—'कर्म्मचोदना ब्राह्मणानि, ब्राह्मणशेषोऽर्थवादः' (आप० परि० ३४-३५) इति। विधिरपि द्विविधः, अप्रवृत्तप्रवर्त्तनम् अज्ञातार्थज्ञापनश्चेति। 'आग्नावैष्णवं पुरोडाशं निर्वपन्ति दीक्षणीयम्' (ऐ० ब्रा० १।१) इत्याद्याः कर्मकाण्डगतविधयोऽप्रवृत्तप्रवर्त्तकाः। 'आत्मा वा इदमेक एवाग्र आसीद्'–(ऐ० आ० २।४।१) इत्यादयो ब्रह्मकाण्डगता अज्ञातज्ञापकाः। तत्र कर्म्मकाण्डगतानां 'जर्त्तिलयवाग्वा वा जुहुयाद् गवीधुकयवाग्वा वा' (तै० सं० ५।४।३।२) इत्यादिविधीनां नास्ति प्रामाण्यम्; प्रवृत्त्ययोग्यद्रव्यविधानेन सम्यगनुभवसाधनत्वाभावात्। अयोग्यत्वं च वाक्यशेषे समाम्नातम्—'अनाहुतिर्वै जर्त्तिलाश्च गवीधुकाश्च' (तै० सं० ५।४।३।२) इति। तत्र हि आरण्यतिलानाम् आरण्यगोधूमानां च आहुतिद्रव्यत्वं निषिद्धम्। तस्माद् बाधितो जर्त्तिलादिविधिरप्रमाणम्। एवमैतरेयतैत्तिरीयादिब्राह्मणेषु, 'तत्तन्नादृत्यम्' (ऐ० ब्रा० २।२३), 'तत्तथा न कार्य्यम्' (तै० ब्रा० १।१।८।६) इति वाक्याभ्यां बहवो विधयो निषिद्धाः। अपि च ऐतरेयब्राह्मणेऽनुदितहोमं बहुधा निन्दित्वा—'तस्मादुदिते होतव्यम्' (ऐ० ब्रा० ५।३१) इति असकृद् निगदितम्। तैत्तिरीयाश्च तथैव आमनन्ति—'यदनुदिते सूर्य्ये प्रातर्जुहुयात् उभयमेवाग्नेयꣳ स्यादुदिते सूर्य्ये प्रातर्जुहोति' (तै० ब्रा० २।१।२।७) इति। पुनरपि त एव उदितहोमे दोषमामनन्ति—'यदुदिते सूर्य्ये प्रातर्जुहुयाद् यथा अतिथये प्रद्रुताय शून्यायावसथायाहार्य्यꣳ हरन्ति। तादृगेव तद्' (तै० ब्रा० २।१।२।१२) इति। तथैव,

'अतिरात्रे षोडशिनं गृह्णाति' इति विधिः 'नातिरात्रे षोडशिनं गृह्णाति' इति निषेधेन बाध्यते। ज्योतिष्टोमादिषु अपि अनुष्ठानानन्तरमेव स्वर्गादिफलं नोपलभ्यते। न हि भोजनानन्तरं तृप्तेरनुपलम्भोऽस्ति। तस्मात् कर्म्मविधिषु प्रामाण्यं दुःसम्पादम्।

अज्ञातज्ञापकेषु ब्रह्मविधिष्वपि परस्परविरोधात् नास्ति प्रामाण्यम्—'आत्मा वा इदमेक एवाग्र आसीद्' इति ऐतरेयिण आमनन्ति (ऐ० उ० १।१)। 'असद् वा इदमग्र आसीद्' (तै० आ० ८।७) इति तैत्तिरीयाः। सोऽयं विरोधः। तस्माद् वेदे विधिभागः सर्व्वोऽप्यप्रमाणमिति प्राप्ते ब्रूमः—

अस्तु एवं जर्त्तिलादिविधेरप्रामाण्यं, तदर्थस्य अननुष्ठेयत्वात्। अनुष्ठेयस्तु अर्थ उपरितने 'अजाक्षीरेण जुहोति' (तै० सं० ५।४।३।२) इति वाक्ये विधीयते। तत्प्रशंसार्थमत्र जर्त्तिलादिकमनूद्य निन्द्यते। यथा गवामश्वानां च प्रशंसार्थम्, 'अपशवो वा अन्ये गोअश्वेभ्यः' (तै० सं० ५।२।९।४) इति वाक्येन अर्थवादरूपेण अजादीनां पशुत्वं निन्द्यते, तद्वत्। एवं तर्हि अजादेर्यथा वस्तुतः पशुत्वमस्ति तथा जर्तिलादिविधिरत्र निन्द्यमानोऽपि क्वचिच्छाखान्तरे भवेदिति चेत्? भवतु नाम, प्रामाण्यमपि तच्छाखाध्यायिनं प्रति भविष्यति। यथा गृहस्थाश्रमे निषिद्धमपि परान्नभोजनमाश्रमान्तरेषु प्रामाणिकं तद्वत्। अनेन न्यायेन सर्वत्र परस्परविरुद्धौ विधिनिषेधौ पुरुषभेदेन व्यवस्थापनीयौ। यथा मन्त्रेषु पाठभेदः शाखाभेदेन व्यवस्थितस्तद्वत्। तैत्तिरीयाः 'वायवः स्थोपायवः स्थ' (तै० सं० १।१।१) इति मन्त्रमामनन्ति। वाजसनेयिनस्तु 'उपायवः स्थ' इत्येतं भागं नामनन्ति (वा० सं० १।१)। प्रत्युत शतपथब्राह्मणे स भागोऽनूद्य निराकृतः (श० ब्रा० १।७।१।३)। तथा सूक्तवाकमन्त्रे शाखान्तरपाठं निराकृत्य पाठान्तरं तैत्तिरीयाः आमनन्ति—'यद् ब्रूयात् सूपावसाना च स्वध्यवसाना चेति प्रमायुको यजमानः स्यात् (तै० सं० २।६।९।६) इति निराकरणम्। 'सूपचरणा च स्वधिचरणा चेत्येव ब्रूयाद्' इति पाठान्तरोपदेशः[१]। तत्र अनुष्ठातृपुरुषभेदेन व्यवस्था। तद्वद् विधिषु द्रष्टव्यम्। षोडशिग्रहणादिदूषणं तु अश्रुतमीमांसावृत्तान्तस्य तवैव शोभते। पूर्व्वमीमांसायां दशमाध्यायस्य अष्टमपादे षोडशिनो ग्रहणाग्रहणविकल्पो निर्णीतः (जै० सू० १०।८।६)। द्वितीयस्य अध्यायस्य प्रथमपादे कालान्तरभाविफलसिद्ध्यर्थमपूर्व्वं

१ 'यदा पुरुषो म्रियते तदा पर्य्यङ्कशयनादिपरित्यागेन इमां भूमिमुपेत्यवसानं गच्छति' तस्मात्तादृशस्यार्थस्य सूचके उपावसानशब्दे प्रयुक्ते सति मरणशीलो भवति। भूमिविषयकेण स्वधिचरणेतिशब्देन गोप्रचारभूमिं कामितवान् भवति।'

निर्णीतम् (जै० सू० २।१।५)। तद्वद् उत्तरमीमांसायां प्रथमाध्यायस्य चतुर्थे पादे, 'कारणत्वेन चाकाशादिषु यथाव्यपदिष्टोक्तेः' (ब्र० सू० १।४।१४)[१] इत्यस्मिन् सूत्रे जगत्कारणे परमात्मनि श्रुतिविप्रतिपत्तिर्निराकृता। द्वितीयस्याध्यायस्य प्रथमे पादे आरम्भणाधिकरणे तु 'असद्व्यपदेशान्नेति चेत्, न, धर्म्मान्तरेण वाक्यशेषात्' (ब्र० सू० २।१।१७)[२] इति सूत्रे तैत्तिरीयवाक्यगतस्य असच्छब्दस्य न शून्यपरत्वं किन्तु अव्यक्तावस्थापरत्वमिति निर्णीतम्। तथा जैमिनिश्चोदनासूत्रे (जै० १।१।२) विधिवाक्यं धर्मे प्रमाणमिति परिज्ञाय औत्पत्तिकसूत्रे (जै० १।१।५) तत्प्रामाण्यं समर्थयामास। व्यासोऽपि 'शास्त्रयोनित्वात्' (ब्र० सू० १।१।३) इति सूत्रे वेदान्तानां ब्रह्मणि प्रामाण्यं प्रतिज्ञाय, 'तत्तु समन्वयाद्' (ब्र० सू० १।१।४) इत्यादिसूत्रैः समर्थयामास। तस्माद् अमीमांसकस्य तव पूर्वोक्तस्थाण्वन्धन्यायो दुष्परिहरः। अतो विधिभागस्य प्रामाण्यं सुस्थितम्।

अर्थवादभागस्य प्रामाण्यं महता प्रयत्नेन जैमिनिः समर्थयामास। तत्सूत्राणि व्याख्यास्यन्ते (जै० सू० १।२।१।१८)। तत्र पूर्वपक्षं सूत्रयति—

'आम्नायस्य क्रियार्थत्वादानर्थक्यमतदर्थानां तस्मादनित्यमुच्यते' (जै०१।२।१) इति। आम्नायस्य सर्व्वस्य क्रियाप्रतिपादनाय प्रवृत्तत्वाद् अक्रियाप्रतिपादकानाम् अर्थवादानां नास्ति कश्चिद् विवक्षितः स्वार्थः। ते च अर्थवादा एवमाम्नायन्ते, —'सोऽरोदीत् यदरोदीत् तद्रुद्रस्य रुद्रत्वम्' (तै० सं० १।५।१।१।) 'स आत्मनो

---

१. 'सत्यपि प्रतिवेदान्तं सृज्यमानेषु आकाशादिषु क्रमादिद्वारके विगाने न स्रष्टरि किञ्चिद् विगानमस्ति। कुतः? यथाव्यपदिष्टोक्तेः। यथाभूतो ह्येकस्मिन् वेदान्ते सर्वज्ञः सर्वेश्वरः सर्वात्मकोऽद्वितीयः कारणत्वेन व्यपदिष्टः, तथाभूत एव वेदान्तान्तरेष्वपि व्यपदिश्यते' इति तत्रत्यं शाङ्करभाष्यम्।

२. 'नह्ययमत्यन्तासत्त्वाभिप्रायेण प्रागुत्पत्तेः कार्य्यस्यासद्व्यपदेशः। किं तर्हि? व्याकृतनामरूपत्वाद्धर्मादव्याकृतनामरूपत्वं धर्मान्तरम्। तेन धर्मान्तरेणायमसद्व्यपदेशः प्रागुत्पत्तेः सत एव कार्य्यस्य कारणरूपेणानन्यस्य। कथमेतदवगम्यते?—वाक्यशेषात्, यदुपक्रमे सन्दिग्धार्थं वाक्यं तच्छेषादेव निश्चीयते। इह च तावद् असदेवेदमग्र आसीद् इत्यसच्छब्देन उपक्रमे निर्दिष्टं यत् तदेव पुनस्तच्छब्देन परामृश्य सदिति विशिनष्टि तत् सदासीदिति,...असद् वा इदमग्र आसीदित्यत्रापि तदात्मानं स्वयमकुरुत इति वाक्यशेषे विशेषणान्नात्यन्तासत्त्वम्। तस्माद्धर्मान्तरेणैवायमसद्व्यपदेशः प्रागुत्पत्तेः कार्य्यस्य। नामरूपव्याकृतं हि वस्तु सच्छब्दार्हं लोके प्रसिद्धम्, अतः प्राक् नामरूपव्याकरणाद् असदिवासीदित्युपचर्य्यते—इति तत्रत्यं शाङ्करभाष्यम्।

वपामुदखिदत्' (तै० सं० २।१।१।४), 'देवा वै देवजन्ममध्यवसाय दिशो न प्राजानन्' (तै० सं० ६।१।५।१) इति। यस्मादीदृशस्य वाक्यस्य विवक्षितोऽर्थः कश्चिदपि नास्ति तस्मादिदं वाक्यमनित्यमुच्यते। यद्यपि अनादित्वात् स्वरूपेण अनित्यत्वं नास्ति, तथापि धर्म्मावबोधनलक्षणस्य नित्यकार्य्यस्य अभावाद् अनित्यैः काव्यालापैः समानत्वादप्रमाणमित्यर्थः।

ननु उदाहृतानामर्थवादानामनुष्ठेये धर्म्मे प्रामाण्याभावेऽपि स्वार्थे प्रामाण्यमस्तु, तत्प्रत्यायकत्वेन स्वतःप्रामाण्यस्य अपवदितुमशक्यत्वाद् इत्याशङ्क्य अन्येषु केषुचिदर्थवादेषु मानान्तरविरोधदर्शनादप्रामाण्ये सति तद्दृष्टान्तेन सर्व्वेषामपि अर्थवादानामप्रामाण्यमित्यभिप्रेत्य सूत्रयति—

'शास्त्रदृष्टविरोधाच्च' (जै० १।२।२) इति।

शास्त्रविरोधो दृष्टविरोधः शास्त्रदृष्टविरोधः इति त्रिविधो विरोधोऽर्थवादेषु उपलभ्यते। तथा हि, 'स्तेनं मनोऽनृतवादिनी वाग्' इत्यत्र श्रूयमाणं मानसं चौर्य्यं वाचिकमनृतवदनं च प्रतिषेधशास्त्रेण विरुद्धम्। 'तस्माद् धूम एव अग्नेर्दिवा ददृशे नार्च्चिस्तस्मादर्च्चिरेवाग्नेर्नक्तं ददृशे न धूमः' (तै० ब्रा० २।१।२) इत्यत्र दृष्टविरोधः; तथा 'न चैतद् विद्मो वयं ब्राह्मणा वा स्मोऽब्राह्मणा वा' (मै० सं० १।४।११) इत्यत्रापि प्रत्यक्षविरोधः। 'को हि तद् वेद यद्यमुष्मिन् लोकेऽस्ति वा न वा' (तै० सं० ६।१।१।१) इत्यत्र शास्त्रदृष्टविरोधः। स्वर्गकामो यजेत' इत्यादिशास्त्रे हि आमुष्मिकं फलं दृश्यते। तस्माद् विरोधाद् अर्थवादानामप्रामाण्यम्।

ननु 'सोऽरोदीद्' इत्यादीनां निष्प्रयोजनत्वात् 'स्तेनं मनः' इत्यादीनां च विरोधादप्रामाण्येऽपि फलप्रतिपादकानामर्थवादानां तदुभयवैलक्षण्याद् अस्तु प्रामाण्यम् इत्याशङ्क्य उत्तरं सूत्रयति—

'तथा फलाभावात् (जै० १।२।३) इति।

यथा मानान्तरविरुद्धम् अर्थवादैरुक्तं तथा फलमपि अविद्यमानमेव तैरुच्यते। तथा हि, गर्गत्रिरात्रं प्रकृत्य श्रूयते, शोभतेऽस्य मुखं य एवं वेद' (ताण्ड्य ब्रा० २०।१६।६) इति। दर्शपूर्णमासयोर्वेदाभिमर्शनं प्रकृत्य श्रूयते 'आस्य प्रजायां वाजी जायते य एवं वेद' (तै० सं० १।७।४।६) इति। न च वयं वेदितॄणां तत् फलमुपलभामहे।

ननु, ऐहिकफलवाक्यानां विसंवादप्रामाण्येऽपि आमुष्मिकफलवाक्यानामस्तु प्रामाण्यमित्याशङ्क्य उत्तरं सूत्रयति—

'अन्यानर्थक्यात्' (जै० १।२।४) इति ।

एवं हि श्रूयते—'पूर्णाहुत्या सर्वान् कामान् अवाप्नोति' (तै० ब्रा० ३।८।१०।५) 'पशुबन्धयाजी सर्वान् लोकानभिजयति'; 'तरति मृत्युं तरति पाप्मानं तरति ब्रह्म-हत्यां योऽश्वमेधेन यजते य उ चैनमेवं वेद' (तै०सं० ५।३।१२।२) । तत्र अग्न्या-धेयगतया पूर्णाहुत्या सर्वकामप्राप्तेरन्यानि अग्निहोत्रादीनि उत्तरकालीनानि अनर्थ-कानि स्युः । तथा निरूढपशुबन्धानुष्ठानेन सर्वलोकाभिजयात् ज्योतिष्टोमादीनामान-र्थक्यम् । अध्ययनकालीनेनैव अश्वमेधवेदनेन ब्रह्महत्यादितरणात् तदनुष्ठानं च व्यर्थं स्यात् । तस्मादामुष्मिकफलवाक्यानामपि अप्रामाण्यम् ।

ननु मा भूत् फलवाक्यानां प्रामाण्यम्, तथापि निषेधवाक्येषु विरोधानुपलम्भा-दस्तु प्रामाण्यम् इत्याशङ्क्य उत्तरं सूत्रयति—

'अभागिप्रतिषेधात्' (जै० १।२।५) इति ।

'न पृथिव्यामग्निश्चेतव्यो नान्तरिक्षे न दिवि' (तै० सं० ५।२।७।१) इत्यत्र अन्तरिक्षस्य च दिवश्च प्रतिषेधभागित्वं नास्ति, तत्र चयनप्रसङ्गस्यैव अभावात् । मा भूत्तर्हि निषेधानां प्रामाण्यम् । 'बबरः प्रावाहणिरकामयत' (तै० सं० ७।१। १०।२) इत्यादीनां पूर्वपुरुषवृत्तान्ताभिधायिनां विरोधानुपलम्भादस्तु प्रामाण्यम् इत्याशङ्क्य उत्तरं सूत्रयति—

'अनित्यसंयोगात्' (जै० १।२।६) इति ।

बबरादिरूपेण अनित्येन अर्थेन संयोगे सति अस्य वाक्यस्य ततः पूर्वम् अभावात् कालिदासादिवाक्यवत् पौरुषेयत्वं प्रसज्येत ।

किं बहुना ? सर्वथापि नास्त्येव अर्थवादानां प्रामाण्यम् इति पूर्वः पक्षः ।

सिद्धान्तं सूत्रयति—

'विधिना त्वेकवाक्यत्वात् स्तुत्यर्थेन विधीनां स्युः' (जै० १।२।७) इति ।

'तु' शब्दोऽर्थवादानामप्रामाण्यं वारयति । 'वायुर्वै क्षेपिष्ठा' इत्येवमादीनाम् अर्थवादानां 'वायव्यं श्वेतमालभेत' (तै० सं० २।१।१।१) इत्यादिना विधिना सह एकवाक्यत्वाद् अस्ति धर्मे प्रामाण्यम् । न च 'विधिवाक्यस्य अर्थवादनैरपेक्ष्येण पदान्वयसम्पूर्तेस्तत्र अर्थवादानां नास्ति उपयोग इति शङ्कनीयम् । ते हि अर्थवादाः पुरुषप्रवृत्तिम् आकाङ्क्षतां विधीनां स्तुत्यर्थत्वेन उपयुक्ताः स्युः । स्तुत्या च प्रलोभितः पुरुषस्तत्र प्रवर्तते ।

ननु अर्थवादानां प्रमादपठितत्वेन उपेक्षणीयत्वात् किमनेन एकवाक्यताप्रयासेन इत्याशङ्क्य आह—

'तुल्यं च साम्प्रदायिकम्' (जै० १।२।८) इति ।

अनध्यायवर्जनादिनियमपुरःसरं गुरुसम्प्रदायादध्ययनं यत् तत् साम्प्रदायिकम् । तच्च विधीनामर्थवादानां च समानम् । तस्माद् विधिवदेतेषामपि प्रमादपाठो न भवति ।

ननु शास्त्रदृष्टविरोधाच्च इत्येवमर्थवादेषु अनुपपत्तिरुक्ता इत्याशङ्क्य आह—

'अप्राप्ता चानुपपत्तिः प्रयोगे हि विरोधः स्याच्छब्दार्थस्त्वप्रयोगभूतस्तस्मादुपपद्येत । (जै० १।२।९) इति ।

'स्तेनं मनः' इत्यादौ शास्त्रविरोधाद्यनुपपत्तिः प्राप्ता, प्रयोगस्य अनुक्तत्वात् । प्रयोगे हि स्तेयादीनाम् उच्यमाने शास्त्रविरोधः स्यात्; न चात्र स्तेयं कर्तव्यमिति प्रयोग उच्यते, किन्तु स्तेयशब्दार्थं एव उच्यते । न च स्तेयशब्दार्थः प्रयोगभूतः । तस्माच्छब्दार्थवचनमात्रेण शास्त्रविरोधाभावाद् अयमर्थवाद उपपन्न एव ।

ननु 'स्तुत्यर्थेन विधीनां स्युः' इति यदुक्तं तदसत्, वैयधिकरण्यात् । 'वेतसशाखया चावकाभिश्चाग्निं विकर्षत्यापो वै शान्ताः' (तै० सं० ५।४।४।३) इत्यत्र वेतसावके विधीयेते आपश्च स्तूयन्ते इति वैयधिकरण्यमित्याशङ्क्याह—

'गुणवादस्तु' (जै० १।२।१०) इति ।

'तु'शब्दो वैयधिकरण्यदोषं वारयति । गुणवादो ह्यत्र विवक्षितः । यथा लोके कश्मीराभिजनो देवदत्तः कश्मीरदेशेषु स्तूयमानेषु स्तुतमात्मानं मन्यते, एवमत्रापि अद्भ्यो जाते वेतसावके अप्सु स्तुतासु स्तुते एव भवतः । शान्ताभ्योऽद्भ्यो जातत्वात् वेतसावके स्वयमपि शान्ते सत्यौ यजमानस्य अनिष्टं शमयतः इत्येतादृशस्य गुणस्य वादोऽत्र अभिप्रेतः ।

'सोऽरोदीत्' इत्यत्रापि रजतस्य पतिताश्रुरूपत्वाद् रजतदाने गृहेऽपि रोदनप्रसङ्गाद् 'बर्हिषि रजतं न देयम्' (तै० सं० १।५।१।२) इति तन्निषेधेन विधेयेन अर्थवादस्य एकवाक्यत्वम् । तत्र रजतदानाभावे रोदनाभावरूपो गुणोऽत्र विवक्षितः; तेन च गुणेन रजतदाननिवारणरूपो विधिः स्तूयते । यद्यपि रजतस्य अश्रुप्रभवत्वमत्यन्तमसत् तथापि यथोक्तरीत्या विधेः स्तुतिः सम्पद्यते ।

'यः प्रजाकामः पशुकामः स्यात् स एतं प्राजापत्यमजं तूपरमा लभेत' (तै० सं० २।१।१।४,५) इत्ययं विधिः प्रजापतिवपोत्खेदेन स्तूयते । तस्मात् प्रजापतिः स्ववपामपि उत्खिद्य अग्नौ प्रहृत्य ततो जातं तूपरम् अजम् आत्मार्थम् आलभ्य प्रजाः पशूंश्च लब्धवान्, तस्मात् प्रजादिसम्पादकोऽयं तूपरः इति तूपरगुणस्य वादोऽत्र विवक्षितः ।

'आदित्यः प्रायणीयश्चरुः' (तै० सं० ६।१।५।१) इत्येष विधिः 'दिशो न प्राजानन्' इत्यनेन दिङ्मोहेन स्तूयते। यथेयम् अदितिर्देवता दिङ्मोहमपि अपनीय दिग्विशेषं ज्ञापयति, तथा बहुविधकर्मसमुदायरूपे सोमयागे अनुष्ठानविषयं भ्रममपनयतीति किमु वक्तव्यमित्येवमदितिदेवतागतस्य गुणस्य वादोऽत्र विवक्षितः। स्वकीयवपोत्स्वेदो देवयजनाध्यवसानमात्रेण दिङ्मोहश्च इत्युभयमस्तु वा मा वा, सर्वथापि स्तुतिपरत्वम् अभ्युपगच्छताम् अस्माकम् न किञ्चिद् हीयते। 'शिखा ते वर्धते वत्स गुडूचीं श्रद्धया पिब' इत्यादौ अविद्यमानेनापि अर्थेन लोके स्तुतिदर्शनात्।

अथ पूर्वपक्षिणा शास्त्रविरोधं दर्शयितुं यदुदाहृतं 'स्तेनं मनोऽनृतवादिनी वाग्' इति तत्र उत्तरं सूत्रयति—

'रूपात् प्रायात् (जै० १।२।११) इति।

'हिरण्यं हस्ते भवति अथ गृभ्णाति' (मै० सं० ४।८।२।३) इत्येतं विधिं स्तोतुम् अयमर्थवाद उच्यते। यथा लोके, 'किमृषिणा देवदत्त एव पूजयितव्यः' इत्यत्र देवदत्तपूजां स्तोतुमेव औदासीन्यमृषौ उपन्यस्यते, न तु पूज्यत्वमृषेर्वारयितुम्, एवमत्रापि हस्ते हिरण्यग्रहणं प्रशंसितुं मनसः स्तेनरूपत्वं वाचोऽनृतवादित्वं च उपन्यस्यते। तत्र गुणवादेन शब्दार्थो योजनीयः। यथा स्तेनाः प्रच्छन्नरूपा एवं मनोऽपीति प्रच्छन्नरूपत्वमत्र गुणः। प्रायेण वाग् अनृतं वक्ति इति प्रायिकत्वं तत्र गुणः। हस्तस्तु न प्रच्छन्नो नापि अनृतबहुलः। अतो हस्ते हिरण्यधारणं प्रशस्तमिति स्तूयते।

यदपि दृष्टविरोधाय 'धूम एव अग्नेर्दिवा ददृशे' इत्यादिकमुदाहृतं तत्र उत्तरं सूत्रयति—

'दूरभूयस्त्वात्' (जै० १।२।१२) इति।

'अग्निर्ज्योतिर्ज्योतिरग्निः स्वाहेति सायं जुहोति, सूर्यो ज्योतिर्ज्योतिः सूर्य्यः स्वाहेति प्रातः' इत्येतौ विधी (ऐ० ब्रा० ५।५।६) स्तोतुं सोऽर्थवादः। यस्माद् अर्चिर्दिवा न दृश्यते तस्मात् सूर्य्यमन्त्र एव प्रातः प्रयोक्तव्यः। यस्माद् रात्रावर्चिरेव दृश्यते तस्मादग्निमन्त्रो रात्रौ प्रयोक्तव्यः सूर्य्यमन्त्रश्च दिवा—इत्येवं तयोर्मन्त्रयोः स्तुतिः। धूमार्चिषोरदर्शनोपन्यासस्तु दूरभूयस्त्वगुणनिमित्तः। भूयसि हि दूरे पर्वताग्रे वृक्षादयोऽपि न विस्पष्टं दृश्यन्ते, किन्तु तृणसादृश्येन तेषां दर्शनाभास एव। तद्वद् अत्रापि।

यदप्यन्यद् दृष्टविरोधाय उदाहृतं, 'न चैतद् विद्मो वयं ब्राह्मणा वा स्मोऽब्राह्मणा वा' इति तत्र उत्तरं सूत्रयति—

'स्त्र्यपराधात् कर्त्तुश्च पुत्रदर्शनात्' (जै० १।२।१३) इति ।

'प्रवरे प्रव्रियमाणे ब्रूयाद् देवाः पितरः' (मै० सं० १।४।११) इत्यस्य विधेः स्तावकोऽयमर्थवादः । यदि यजमानो 'देवाः पितरः' (तै० ब्रा० ३।७।५।४) इत्यादि मन्त्रेण प्रवरम् अनुमन्त्रयेत् तदानीमब्राह्मणोऽपि ब्राह्मणो भवेदिति अनुमन्त्रणस्य स्तुतिः । 'न चैतद् विद्मः' इत्येतदज्ञानवचनं दुर्ज्ञानत्वगुणेन तत्र प्रयुज्यते । यत्र स्त्रिया अपराधो भवति तत्र कर्त्तुरुत्पादयितुर्जारस्यापि पुत्रो दृश्यते । अतः पत्युपपत्योरुभयोः पुत्रदर्शनात् स्वकीयं जन्म कीदृशमिति दुर्ज्ञानम् । अनेन अभिप्रायेण प्रयुक्तत्वात् नास्ति तत्र दृष्टविरोधः । न हि तत्र दृश्यमानं स्वब्राह्मण्यमपवदितुं 'न चैतद् विद्मः' इत्युपन्यस्तम् ।

यदपि शास्त्रीयदर्शनविरोधाय उदाहृतं, 'को हि तद् वेद यद्यमुष्मिल्लोकेऽस्ति वा न वा' इति । तत्र उत्तरं सूत्रयति—

'आकालिकेप्सा' (जै० १।२।१४) इति ।

'दिक्ष्वतीकाशान् करोति' (तै० सं० ६।१।१।१) इति प्राचीनवंशस्य द्वारविधिः । तस्य शेषोऽयं, 'को हि तद् वेद' इति । धूमाद्युपद्रवपरिहारेण प्रत्यक्षेण फलेन द्वारविधिः स्तूयते । स्वर्गप्राप्तिरूपं तु फलमाकालिकम् । अकाले भवमाकालिकं विप्रकृष्टकालीनं, न तु इदानीन्तनमित्यर्थः । तस्य ईप्सा प्राप्तुमिच्छा । सा च 'को हि तद् वेद' इति अनिश्चयोपन्यासे कारणम् । यथा भाविकालीनः पौत्रप्रपौत्रादिवृत्तान्तो निश्चेतुं न शक्यते, तद्वत् स्वर्गप्राप्तिर्भाविकालीनेति गुणयोगादनिश्चयोपन्यासः । धूमादिपरिहारस्तु प्रत्यक्षत्वाद् निश्चित इत्यभिप्रायः ।

यदप्यन्यत् दृष्टविरोधाय उदाहृतं 'शोभतेऽस्य मुखं य एवं वेद' (ता० म० ब्रा० २०।१६।६) इति । तत्र उत्तरं सूत्रयति—

'विद्याप्रशंसा' (जै० १।२।१५) इति ।

सोऽयं गर्गत्रिरात्रविधेः शेषः । तद्विषयं वेदनमपि मुखशोभाहेतुः, किमुत अनुष्ठानमिति स्तूयते । यथा कर्णाभरणादिना मुखं शोभितं भवति, एवं वेदितुरुत्साहेन विकसितं वदनं शोभितमिव शिष्यैरुद्वीक्ष्यते । अतः शोभासादृश्यगुणयोगात् 'शोभते' इत्युच्यते ।

यदप्यन्यद् विरोधाय उदाहृतम् 'आस्य प्रजायां वाजी जायते य एवं वेद' इति सोऽपि वेदानुमन्त्रणविधेः शेषः । अत्रापि कैमुतिकन्यायेन स्तुतिः पूर्ववद् योजनीया । वेदितुः पुत्रः पितृशिक्षया स्वयमपि विद्वान् भवति, ततः प्रतिग्रहेण अन्नं प्राप्नोति । तस्मादीदृशं गुणमभिप्रेत्य 'वाजी जायते' इत्युक्तम् ।

यदप्यन्यानर्थक्याय उदाहृतं, 'पूर्णाहुत्या सर्व्वान् कामान् अवाप्नोति' इति। तत्र उत्तरं सूत्रयति—

'सर्व्वत्वमाधिकारिकम्' (जै० १।२।१६) इति।

'पूर्णाहुतिं जुहुयाद्' इत्यस्य विधेः शेषोऽयम्। सर्व्वकामावाप्तिहेतुत्वात् प्रशस्तेयमाहुतिरिति स्तूयते। यथा सर्व्वे ब्राह्मणा भोजयितव्या इत्यत्र सर्व्वत्वं स्वगृहागतब्राह्मणविषयम्। एवं पूर्णाहुत्या कर्मसाङ्गत्वे यत् फलं तस्मिन् अधिकारे प्रस्तावे संभावितं तद्विषयमेव सर्व्वत्वं द्रष्टव्यम्। पूर्णाहुतेरभावे सति आधानरूपं कर्म्म अङ्गविकलं भवति। तच्च वैकल्यं पूर्णाहुत्या समाधीयते इत्येकः कामः। तस्मिन् समाहिते सति आहवनीयाद्यग्नयोऽग्निहोत्रादिकर्म्मसु योग्या भवन्ति इत्ययमन्यः कामः। तैश्च कर्म्मभिस्तत् तत् फलं प्राप्यते इति कामान्तरम्। ईदृशी सर्व्वकामावाप्तिराहुत्यन्तरेष्वपि विद्यते इति चेत्? विद्यतां नाम। किं नश्छिन्नम्? न खलु एतावता पूर्णाहुतिस्तुतेः काचिद् हानिरस्ति।

ननु पूर्णाहुतेरङ्गभावत्वात् तदीयफलश्रुतेरर्थवादत्वेन स्तावकत्वं भवतु, द्रव्यसंस्कारकर्म्मसु परार्थत्वात् फलश्रुतिरर्थवादः (जै० ४।३।१) इति सूत्रेण निर्णीतत्वात्। पशुबन्धवाक्यस्य तु कर्म्मविधायकत्वात् सर्व्वलोकाभिजयस्य मुख्यफलत्वाद् अन्यानर्थक्यं दुर्वारम् इत्याशङ्क्य उत्तरं सूत्रयति—

'फलस्य कर्मनिष्पत्तेस्तेषां लोकवत् परिमाणतः सारतो वा फलविशेषः स्यात्।' (जै० १।२।१७) इति।

पृथिव्यन्तरिक्षद्युलोकेषु अन्यतमलोकाभिजयरूपं फलं पशुबन्धकर्मणा निष्पाद्यते। तेषां च पृथिव्यादीनां फलानां कर्म्मान्तरेण परिमाणाधिक्यं सारत्वं वा सम्पद्यते। ततः फलविशेषः स्यादिति नास्ति आनर्थक्यम्। लोकवदित्युक्तार्थे दृष्टान्तः। यथा लोके निष्केण खारीपरिमितान् व्रीहीन् विक्रीय निष्कान्तरेण पुनः क्रये सति परिमाणाधिक्यं भवति; यथा निष्केण वस्त्रमात्रं लभ्यते निष्कद्वयेन तु सारभूतं दुकूलम्। तथा भोगाधिक्यं भोगसारत्वं वा कर्म्मान्तरेण द्रष्टव्यम्। ब्रह्महत्याया अपि मानस्याः स्वल्पाया वेदनमात्रेण तरणम्। कायिक्यास्तु महत्या अश्वमेधेन, इति नास्ति अन्यानर्थक्यम्।

योऽपि, 'नान्तरिक्षे न दिवि' इत्यप्रसक्तप्रतिषेध उदाहृतस्तथा "बबरः प्रावाहणिः' इत्यनित्यसंयोग उदाहृतस्तत्र उभयत्रोत्तरं सूत्रयति—

'अन्त्ययोर्यथोक्तम्।' (जै० १।२।१८) इति।

अन्त्ययोरुदाहरणयोरुत्तरं पूर्व्वोक्तमेव द्रष्टव्यम् ।' अन्तरिक्षादौ चयननिन्दा-रूपोऽर्थवादो 'हिरण्यं निधाय चेतव्यम्' (तै० सं० ५।२।७।१) इत्यस्य विधेः शेषः । अतोऽत्र 'स्तुत्यर्थेन विधीनां स्युः' इत्युक्तमेव उत्तरम् । अन्तरिक्षे चयन-प्रसक्त्यभावात् तन्निन्दा नित्यानुवादोऽस्तु । तेनापि विधिः स्तोतुं शक्यते, नित्य-सिद्धार्थानुवादिना वायोः क्षेपिष्ठत्वेन पशुविधेः स्तुतत्वात् । 'बवरः प्रावाहणिर-कामयत' इत्यत्रापि बवरनामकः कश्चिदनित्यः पुरुषो मनुष्यो न विवक्षितः, किन्तु बवरध्वनियुक्तः प्रकर्षेण वहनशीलो वायुर्व्यवहारदशायां नित्य एव अर्थो विवक्षितः—इत्येतदुत्तरं प्रथमपादस्य अन्तिमाधिकरणे प्रोक्तम् ।

तस्मात् सम्भावितदोषाणां परिहृतत्वात् अर्थवादानामस्ति प्रामाण्यम् ।

तत्र संग्रहश्लोकाः—

वायुर्वा इत्येवमादेरर्थवादस्य मानता ।
न विधेयेऽस्ति धर्मे किं किं वासौ तत्र विद्यते ॥
विध्यर्थवादशब्दानां मिथोऽपेक्षापरिक्षयात् ।
नास्त्येकवाक्यता धर्म्मे प्रामाण्यं सम्भवेत् कुतः ॥
विध्यर्थवादौ साकाङ्क्षौ प्राशस्त्यपुरुषार्थयोः ।
तेनैकवाक्यता तस्माद् वादानां धर्ममानता ॥

(जै० न्या० मा० १।२।१) इति ।

तदेवं वेदे विद्यमानानां त्रयाणां मन्त्रविध्यर्थवादभागानाम् अप्रामाण्ये कारणा-भावाद् बोधकानां तेषां प्रामाण्यस्य स्वतस्त्वाङ्गीकाराच्च कृत्स्नस्यापि वेदस्य प्रामाण्यं सिद्धम् ।

वेदस्य पौरुषेयत्व-निरसनपुरःसरमपौरु-षेयत्वसिद्धिः

ननु एवमपि वेदस्य पौरुषेयत्वेन विप्रलम्भकवाक्यवद् अप्रामाण्यं स्यात् । पौरुषेयत्वं च प्रथमपादे पूर्वपक्षत्वेन जैमिनिः सूत्रयामास—

'वेदांश्चैके सन्निकर्षं पुरुषाख्या' (जै० १।१।२७–३२) इति ।

एके वादिनो वेदान् प्रति सन्निकर्षं मन्यन्ते । कालिदासादिभिर्निर्मितानां, रघुवंशादिग्रन्थानां समुच्चयार्थश्चकारः । ते ह्यत्र दृष्टान्ततया समुच्चीयन्ते; यथा रघुवंशादय इदानीन्तनास्तथा वेदा अपि । न तु वेदा अनादयः, अत एव वेदकर्तृत्वे पुरुषा आख्यायन्ते । वैयासिकं भारतं वाल्मीकीयं रामायणमित्यत्र यथा भारतादि-कर्तृत्वेन व्यासादय आख्यायन्ते तथा काठकं कौथुमं तैत्तिरीयमित्येवं तत्तद्वेदशाखा-कर्तृत्वेन कठादीनामाख्यातत्वाद् वेदाः पौरुषेयाः ।

ननु नित्यानामेव सतां वेदानामुपाध्यायवत् सम्प्रदायप्रवर्त्तकत्वेन काठकादि-समाख्या स्यादित्याशङ्क्य युक्त्यन्तरं सूत्रयति—

'अनित्यदर्शनाच्च' (जै० १।१।२८) इति।

अनित्या जननमरणवन्तो ववरादयो वेदे श्रूयन्ते—'ववरः प्रावाहणिरकामयत' (तै० सं० ७।१।१०।२) 'कुसुरुविन्द औद्दालकिरकामयत' (तै० सं० ७।२।२।१) इति। तथा सति ववरादिभ्यः पूर्व्वमभावाद् अनित्या वेदाः। विमतं वेदवाक्यं पौरुषेयं, वाक्यत्वात्, कालिदासादिवाक्यवद् इत्याद्यनुमानसमुच्चयार्थश्चकारः।

सिद्धान्तं सूत्रयति—

'उक्तं तु शव्दपूर्वत्वम्' (जै० १।१।२६) इति।

'तु' शव्दो वेदानामनित्यत्वं वारयति। शव्दस्य वेदरूपस्य कठादिपुरुषेभ्यः पूर्व्वत्वम् अनादित्वं प्राचीनैरेव सूत्रैरुक्तम्। 'औत्पत्तिकस्तु शव्दस्य अर्थेन सम्वन्धः' (जै० सू० ११।५) इत्यस्मिन् सूत्रे 'औत्पत्तिक' शव्देन सर्व्वेषां शव्दानां वेदानां तदर्थानां तदुभयसम्वन्धानां च नित्यत्वं प्रतिज्ञाय उत्तराभ्यां शव्दा[1]धिकरणवाक्याधिकरणाभ्यामुपपादितत्वात्। का तर्हि काठकाद्याख्याया गतिरित्याशङ्क्य सम्प्रदायप्रवर्त्तनात् सेयमुपपद्यते इत्युत्तरं सूत्रयति—

'आख्या प्रवचनात्' (जै० १।१।३०) इति।

अस्तु इयमाख्याया गतिः। ततः परं ववराद्यनित्यदर्शनं यदुक्तं तस्य किमुत्तरमित्याशङ्क्य उत्तरं सूत्रयति—

'परं तु श्रुतिसामान्यमात्रम्।' (जै० १।१।३१) इति।

यत् परं ववरादिकं तच्छव्दसामान्यमेव। न तु मनुष्यो ववरनामकोऽत्र विवक्षितः। ववरध्वनियुक्तस्य प्रवहणस्वभावस्य वायोरत्र वक्तुं शक्यत्वात्।

ननु वेदे क्वचिदेवं श्रूयते, 'वनस्पतयः सत्रमासत' 'सर्पाः सत्रमासत' इति। तत्र वनस्पतीनामचेतनत्वात्, सर्पाणां चेतनत्वेऽपि विद्यारहितत्वाद् न तदनुष्ठानं सम्भवति। अतो 'जरद्गवो गायति मद्रकाणि' इत्याद्यु[2]न्मत्तबालवाक्यसदृशत्वात् केनचित् कृतो वेद इत्याशङ्क्य उत्तरं सूत्रयति—

---

१. अधिकरणलक्षणं—

विषयो विशयश्चेति पूर्वपक्षस्तथोत्तरम्।
निर्णयश्चेति पञ्चाङ्गं शास्त्रेऽधिकरणं मतम्॥

२. जरद्गवः कम्वलपादुकाभ्यां द्वारि स्थितो गायति मद्रकाणि।
तं ब्राह्मणी पृच्छति पुत्रकाम्या राजन् रुमायां लशुनस्य कोऽर्थः॥

'कृते चाविनियोगः स्यात् कर्म्मणः समत्वात्।' (जै० १।१।३२) इति।

यदि ज्योतिष्टोमादिवाक्यं केनचित् पुरुषेण क्रियते तदानीं कृते तस्मिन् वाक्ये स्वर्गसाधनत्वे ज्योतिष्टोमस्य विनियोगो न स्यात्; साध्यसाधनभावस्य पुरुषेण ज्ञातुमशक्यत्वात्। श्रूयते तु विनियोगः, 'ज्योतिष्टोमेन स्वर्गकामो यजेत' इति। न चैतदुन्मत्तवाक्यसदृशं, लौकिकविधिवाक्यवद् भाव्यकरणेतिकर्त्तव्यतारूपैस्त्रिभिरंशैरुपेताया भावनाया अवगमात्। लोके हि ब्राह्मणान् भोजयेदिति विधौ, किं, केन, कथमित्याकाङ्क्षायां, तृप्तिमुद्दिश्य, ओदनेन द्रव्येण, शाकसूपादिपरिवेषणप्रकारेण इति यथा उच्यते, तथा ज्योतिष्टोमविधावपि, स्वर्गमुद्दिश्य, सोमेन द्रव्येण, दीक्षणीयाद्यङ्गोपकारप्रकारेण इत्युक्ते कथमुन्मत्तवाक्यसदृशं भवेत्। वनस्पत्यादिसत्त्रवाक्यमपि तत्सदृशम्, तस्य सत्त्रकर्मणो ज्योतिष्टोमादिना समत्वात्। 'यत्परो हि शब्दः स शब्दार्थः' इति न्यायविद आहुः। ज्योतिष्टोमादिवाक्यस्य विधायकत्वादनुष्ठाने तात्पर्य्यम्, वनस्पत्यादिसत्त्रवाक्यस्य अर्थवादत्वात् प्रशंसायां तात्पर्य्यम्। सा च अविद्यमानेनापि कर्त्तुं शक्यते। अचेतना अविद्वांसोऽपि सत्त्रमनुष्ठितवन्तः किं पुनश्चेतना विद्वांसो ब्राह्मणाः इति सत्त्रस्तुतिः। 'च'कारः पूर्वपक्षोक्तस्य वाक्यहेतोः कर्त्रनुपलम्भेन परार्हतिं समुच्चिनोति। तस्माद् नास्ति वेदस्य पौरुषेयत्वम्।

अत्रैतौ संग्रहश्लोकौ—

पौरुषेयं न वा वेदवाक्यं स्यात् पौरुषेयता।
काठकादिसमाख्यानाद् वाक्यत्वाच्चान्यवाक्यवत्॥
समाख्यानं प्रवचनाद् वाक्यत्वं तु पराहतम्।
तत्कर्त्रनुपलम्भेन स्यात्ततोऽपौरुषेयता॥ (जै०न्या०मा० १।१।८) इति।

ननु भगवता बादरायणेन वेदस्य ब्रह्मकार्य्यत्वं सूत्रितम्, 'शास्त्रयोनित्वाद्' (वे० १।१।३) इति। ऋग्वेदादिशास्त्रकारणत्वाद् ब्रह्म सर्व्वज्ञमिति सूत्रार्थः। बाढम्। नैतावता पौरुषेयत्वं भवति, मनुष्यनिर्मितत्वाभावात्। ईदृशमपौरुषेयत्वमभिप्रेत्य व्यवहारदशायामाकाशादिवद् नित्यत्वं बादरायणेनैव देवताधिकरणे सूत्रितम्, 'अत एव च नित्यत्वम्' (ब्र० सू० १।३।२९) इति। श्रुतिस्मृती चात्र भवतः—'वाचा विरूपनित्यया' (ऋ० सं० ८।७५।६) इति श्रुतिः। अनादिनिधना नित्या वागुत्सृष्टा स्वयम्भुवा' (म० भ० शां० २३२।२४) इति स्मृतिः[1]। तस्मात्

१. अनादिनिधना नित्या वागुत्सृष्टा स्वयम्भुवा।
आदौ वेदमयी दिव्या यतः सर्वाः प्रवृत्तयः॥
ब्रह्मसूत्रशाङ्करभाष्ये धृतम् (१-३-२८)

कर्तृदोषशङ्काया अनुदयात् मन्त्रब्राह्मणात्मकस्य वेदस्य निर्विघ्नं प्रामाण्यं सिद्धम् ।

मन्त्र ब्राह्मणयोः स्वरूपनिर्णयः — ननु मन्त्रब्राह्मणात्मकत्वं वेदस्य न युक्तम्, तयोः स्वरूपस्य निर्णेतुमशक्यत्वात् । मैवम् । द्वितीयाध्यायस्य प्रथमपादे सप्तमाष्टयोरधिकरणयोर्निर्णीतत्वात् ।

सप्तमाधिकरणमारचयति—

अहे बुध्निय मन्त्रं म इति मन्त्रस्य लक्षणम् ।
नास्त्यस्ति वास्य नास्त्येतदव्याप्त्यादेरवारणात् ॥
याज्ञिकानां समाख्यानं लक्षणं दोषवर्जितम् ।
तेऽनुष्ठानस्मारकादौ मन्त्रशब्दं प्रयुञ्जते ॥

(जै० न्या० मा० २।१।७) इति ।

आधाने इदमाम्नायते—'अहे बुध्निय मन्त्रं मे गोपाय' (तै० ब्रा० १।२।१।२६) इति । तत्र मन्त्रस्य लक्षणं नास्ति, अव्याप्त्यतिव्याप्त्योर्वारयितुमशक्यत्वात् । विहितार्थाभिधायको मन्त्र इत्युक्ते 'वसन्ताय कपिञ्जलानालभते' (वा० सं० २४।२०) इत्यस्य मन्त्रस्य विधिरूपत्वाद् अव्याप्तिः । मननहेतुर्मन्त्र इत्युक्ते ब्राह्मणेऽतिव्याप्तिः । एवमसिपदान्तो मन्त्र उत्तमपुरुषान्तो मन्त्र इत्यादिलक्षणानां परस्परमव्याप्तिरिति चेत् ? मैवम्' याज्ञिकसमाख्यानस्य निर्दोषलक्षणत्वात् । तच्च समाख्यानम् अनुष्ठानस्मारकादीनां मन्त्रत्वं गमयति; 'उरु प्रथस्व' (तै० सं० १।१।८।१) इत्यादयोऽनुष्ठानस्मारकाः, 'अग्निमीळे पुरोहितम्' (ऋ० सं० १।१।१) इत्यादयः स्तुतिरूपाः, 'इषे त्वा' (तै० सं० १।१।१।१) इत्यादयस्त्वान्ताः । 'अग्न आयाहि वीतये' (तै० ब्रा० ३।५।२।१) इत्यादयः आमन्त्रणोपेताः । 'अग्नीदग्नीन् विहर' (तै० सं० ६।३।१।२) इत्यादयः प्रैषरूपाः । 'अधः स्विदासी३दुपरि स्विदासी३त्' (ऋ० सं० १०।१२९।५) इत्यादयो विचाररूपाः । 'अम्बे अम्बाल्यम्बिके न मा नयति कश्चन' (तै० सं० ७।४।१९।१) इत्यादयः परिदेवनरूपाः । 'पृच्छामि त्वा परमन्तं पृथिव्याः' (तै० सं० ७।४।१८।२) इत्यादयः प्रश्नरूपाः । 'वेदिमाहुः परमन्तं पृथिव्याः' (तै० सं० ७।४।१८।२) इत्यादय उत्तररूपाः । एवमन्यदपि उदाहार्यम् । ईदृशेषु अत्यन्तविजातीयेषु समाख्यानमन्तरेण नान्यः कश्चिदनुगतो धर्मोऽस्ति यस्य लक्षणत्वमुच्येत । लक्षणस्य चोपयोगः पूर्वाचार्यैर्दर्शितः—

ऋषयोऽपि पदार्थानां नान्तं यान्ति पृथक्त्वशः ।
लक्षणेन तु सिद्धानामन्तं यान्ति विपश्चितः इति ॥ इति ।

तस्मादभियुक्तानां मन्त्रोऽयमिति समाख्यानं लक्षणम् ।
अष्टमाधिकरणमाचरति—

[1]नास्त्येतद् ब्राह्मणेत्यत्र लक्षणं विद्यतेऽथवा ।
नास्तीयन्तो वेदभागा इति क्लृप्तेरभावतः ॥
मन्त्रश्च ब्राह्मणश्चेति द्वौ भागौ तेन मन्त्रतः ।
अन्यद् ब्राह्मणमित्येतद् भवेद् ब्राह्मणलक्षणम् ॥

(जै० न्या० मा० २।१।८) इति ।

चातुर्मास्येषु इदमाम्नायते, 'एतद्ब्राह्मणान्येव पञ्च हवींषि' (तै० ब्रा० १।७।१।१) इति । तत्र ब्राह्मणस्य लक्षणं नास्ति । कुतः ? वेदभागानाम् इयत्तानवधारणेन ब्राह्मणभागेषु अन्यभागेषु च लक्षणस्य अव्याप्त्यतिव्याप्त्योः शोधयितुमशक्यत्वात् । पूर्वोक्तो मन्त्रभाग एकः । भागान्तराणि च कानिचित् पूर्वैरुदाहर्त्तुं संगृहीतानि—

हेतुर्निर्वचनं निन्दा प्रशंसा संशयो विधिः ।
परक्रिया पुराकल्पो व्यवधारणकल्पना ॥ इति ।

'तेन ह्यन्नं क्रियते' (श० ब्रा० २।५।२।२३) इति हेतुः । 'तद्दध्नो दधित्वम्' (तै० सं० २।५।३।४) इति निर्वचनम् । 'अमेध्या वै माषाः' (तै० सं० ५।१।८।१) इति निन्दा । 'वायुर्वै क्षेपिष्ठा देवता' (तै० सं० २।१।१।१) इति प्रशंसा । 'तद्व्यचिकित्सज् जुहवानी३ माहौषा३म्' (तै० सं० ६।५।६।१) इति संशयः । 'यजमानेन सम्मितौदुम्बरी भवति' (तै० सं० ६।२।१०।३ इति विधिः । 'माषानेव मह्यं पचन्ति' इति परकृतिः । 'पुरा ब्राह्मणा अभैषुः' (तै० सं० १।५।७।५) इति पुराकल्पः । 'यावतोऽश्वान् प्रतिगृह्णीयात् तावतो वरुणांश्चतुष्कपालान् निर्वपेद्' (तै० सं० २।३।१२।१) इति विशेषावधारणकल्पना । एवम् अन्यदपि उदाहार्यम् ।

न च हेत्वादीनामन्यतमं ब्राह्मणमिति लक्षणम्, मन्त्रेष्वपि हेत्वादिसद्भावात्— 'इन्दवो वामुशन्ति हि' (ऋ० सं० १।२।४) इति हेतुः । 'उदानिषुर्महीरिति

---

१. 'एतद्ब्राह्मणान्येव पञ्च हवींषी'त्यत्र ब्राह्मणस्य लक्षणं किमपि नास्ति, अथवा विद्यते ? (संशयः)। इयन्तो वेदभागा इतिक्लृप्तेरभावाद् अव्याप्त्यतिव्याप्त्योर्निवारणमशक्यम्, अतो ब्राह्मणस्य लक्षणं नास्तीति (पूर्वपक्षः) । वेदस्य द्वौ भागौ मन्त्रश्च ब्राह्मणश्चेति, मन्त्रभागः पूर्वमुक्तः, अतस्तदतिरिक्तं ब्राह्मणमिति ब्राह्मणस्य लक्षणं भवेदिति (सिद्धान्तः)।

तस्मादुदकमुच्यते' (तै० सं० ५।६।१।३, अथर्व ३।१।३।४) इति निर्वचनम् । 'मोघमन्नं विन्दते अप्रचेता' (ऋ० सं० १०।११७।६) इति निन्दा । 'अग्निर्मूर्द्धा दिवः ककुत्' (ऋ० सं० ८।४४।१६) इति प्रशंसा । 'अधः स्विदासी३दुपरिस्विदासी३त्' (ऋ० सं० १०।१२९।५) इति संशयः । 'वसन्ताय कपिञ्जलानालभते' (वा० सं० २४।२०) इति विधिः । 'सहस्रमयुता ददद्' (ऋ० सं० ८।२१।१८) इति परकृतिः । 'यज्ञेन यज्ञमयजन्त देवाः (ऋ० सं० १।१६४।५०) इति पुराकल्पः । इतिकरणबहुलम् ब्राह्मणमिति चेत्, न, 'इत्यददा इत्ययजथा इत्यपच इति ब्राह्मणो गायेत्' (तै० ब्रा० ३।९।१४।३) इत्यस्मिन् ब्राह्मणेन गातव्ये मन्त्रे (श० ब्रा० १३।१।५।६) अतिव्याप्तेः; 'इत्याह' इत्यनेन वाक्येन उपनिबद्धं ब्राह्मणमिति चेत् ? न, 'राजा चिद् यं भगं भक्षीत्याह' (ऋ० सं० ७।४१।२) 'यो मायातुं यातुधानेत्याह यो वा रक्षाः शुचिरस्मीत्याह' (ऋ० सं० ७।१०४।१६) इत्यनयोर्मन्त्रयोरतिव्याप्तेः । आख्यायिकारूपं ब्राह्मणमिति चेत्, न, यमयमीसंवादसूक्तादौ (ऋ० १०।१०) अतिव्याप्तेः ।

तस्मात् नास्ति ब्राह्मणस्य लक्षणमिति प्राप्ते ब्रूमः—मन्त्रब्राह्मणरूपौ द्वावेव वेदभागावित्यङ्गीकारान्मन्त्रलक्षणस्य पूर्वमभिहितत्वाद् अवशिष्टो वेदभागो ब्राह्मणमित्येतल्लक्षणं भविष्यति । तदेतल्लक्षणद्वयं जैमिनिः सूत्रयामास—

'तच्चोदकेषु मन्त्राख्या'

शेषे ब्राह्मणशब्दः' (जै० २।१।३२।३३) इति ।

तस्मिन् वेदे केषुचिदभिधायकेषु वाक्येषु मन्त्र इति समाख्या सम्प्रदायविद्भिर्व्यवह्रियते—'मन्त्रानधीमहे' इति । मन्त्रव्यतिरिक्तभागे तु ब्राह्मणशब्दस्तैर्व्यवहृत इत्यर्थः ।

ननु ब्रह्मयज्ञप्रकरणे, मन्त्रब्राह्मणव्यतिरिक्ता इतिहासादयो भागा आम्नायन्ते—'यद् ब्राह्मणानीतिहासान् पुराणानि कल्पान् गाथा नाराशंसीः' (तै० आ० २।९) इति; मैवम्, विप्रपरिव्राजकन्यायेन ब्राह्मणाद्यवान्तरभेदानामेव इतिहासादीनां पृथगभिधानात् । 'देवासुराः संयत्ता आसन्' (तै० सं० ५।३।११।१) इत्यादय इतिहासाः । 'इदं वा अग्रे नैव किञ्चनासीत्' (तै० ब्रा० २।२।९।१) इत्यादिकं जगतः प्रागवस्थामुपक्रम्य सर्गप्रतिपादकं वाक्यजातं पुराणम् । कल्पस्तु आरुणकेतुकचयनप्रकरणे समाम्नायते—'इति मन्त्राः । कल्पोऽत ऊर्ध्वम् । यदि बलिं हरेत्', (तै० आ० १।३।१।२) इति । अग्निचयने 'यमगाथाभिः परिगायति' (तै० सं० ५।१।८।२) इति विहिता मन्त्रविशेषा गाथाः । मनुष्यवृत्तान्त-

प्रतिपादिका ऋचो नाराशंस्यः। तस्माद् मन्त्रब्राह्मणव्यतिरिक्तभागाभावाद् मन्त्रब्राह्मणस्वरूपस्य लक्षितत्वात् तदुभयात्मकं वेदस्य सुस्थितम्।

लक्षणपूर्वकं मन्त्राणां त्रैविध्यविचारः

मन्त्रावान्तरविशेषश्च तस्मिन् एव पादे इत्थं विचारितः।
ऋक्सामयजुषां लक्ष्म साङ्कर्यादिति शङ्किते।
पादश्च गीतिः प्रश्लिष्टपाठ इत्यस्त्वसङ्करः॥
(जै० न्या० २।१।१०) इति।

इदमाम्नायते—'अहे बुध्निय मन्त्रं मे गोपाय यमृषयस्त्रैविदा विदुः।' 'ऋचः सामानि यजूंषि' (तै० ब्रा० १।२।१।२६) इति। त्रीन् वेदान् विदन्ति इति त्रिविदः, त्रिविदां सम्बन्धिनोऽध्येतारस्त्रैविदाः। ते च यं मन्त्रभागमृगादिरूपेण त्रिविधमाहुस्तं गोपाय इति योजना। तत्र त्रिविधानामृक्सामयजुषां व्यवस्थितं लक्षणं नास्ति कुतः? साङ्कर्यस्य दुष्परिहरत्वात्। अध्यापकप्रसिद्धेषु ऋग्वेदादिषु पठितो मन्त्र इति हि लक्षणं वक्तव्यम्। तच्च सङ्कीर्णम्। 'देवो वः सवितोत्पुनात्वच्छिद्रेण पवित्रेण वसोः सूर्यस्य रश्मिभिः' (तै० सं० १।१।५।१) इत्ययं मन्त्रो यजुर्वेदे सम्प्रतिपन्नो यजुषां मध्ये पठितः। न च तस्य यजुष्ट्वमस्ति तद् ब्राह्मणे 'सावित्र्यर्चा' (तै० ब्रा० ३।२।५।३) इति ऋक्त्वेन व्यवहृतत्वात्। 'एतत् साम गायन्नास्ते' (तै० आ० ९।१०।५) इति प्रतिज्ञाय किञ्चित् साम यजुर्वेदे गीतम्। 'अक्षितमस्यच्युतमसि प्राणसंशितमसि' (छा० उप० ३।१७।६) इति त्रीणि यजूंषि सामवेदे समाम्नातानि। तथा, गीयमानस्य साम्न आश्रयभूता ऋचः सामवेदे समाम्नायन्ते। तस्माद् नास्ति लक्षणमिति चेत्, न, पादादीनामसङ्कीर्णलक्षणत्वात्। पादेन अर्थेन चोपेता वृत्तबद्धा मन्त्रा ऋचः, गीतिरूपा मन्त्राः सामानि, वृत्तगीतिवर्जितत्वेन प्रश्लिष्टपठितमन्त्रा यजूंषि—इत्युक्ते न क्वापि सङ्करः। तदेतत् त्रैविध्यं जैमिनिना सूत्रत्रयेण लक्षितम्—

'तेषामृग् यत्रार्थवशेन पादव्यवस्था'
'गीतिषु सामाख्या'
'शेषे यजुःशब्दः' (जै० सू० २।१।३५-३७) इति।

एतमेव मन्त्रावान्तरविशेषमुपजीव्य वेदानामृग्वेदो यजुर्वेदः सामवेद इति त्रैविध्यं सम्पन्नम्।

फलचिन्तनपूर्वकं वेदाध्ययनस्येतिकर्तव्यता निर्देशः

तेषां च वेदानां सर्वेषामन्यतमस्य वा स्वप्रज्ञानुसारेण अध्ययनमुपनीतेन कर्त्तव्यम्। तथा च याज्ञवल्क्यः स्मरति—

'वेदानधीत्य वेदो वा वेदं वापि यथाक्रमम्' इति ।

एकवेदपक्षे पितृपितामहादिपरम्पराप्राप्त एव वेदोऽध्येतव्य इत्यभिप्रेत्य 'स्वाध्यायोऽध्येतव्य' (तै० आ० २।१५) इति 'स्व' शब्द आम्नातः । तच्चाऽध्ययनं न काम्यं किन्तु नित्यम् । अत एव पुरुषार्थानुशासने सूत्रितम्—

'वेदस्याध्ययनं नित्यमनध्ययने पातात् ।' इति ।

पातित्यञ्चैवमाम्नायते—'अपहतपाप्मा स्वाध्यायो देवपवित्रं वा एतत्, तं योऽनूत्सृजत्यभागो वाचि भवत्यभागो नाके तदेषाभ्युक्ता यस्तित्याज सखिविदं सखायम्, न तस्य वाच्यपि भागोऽस्ति । यदि शृणोत्यलीकं शृणोति न हि प्रवेद सुकृतस्य पन्थामिति । तस्मात् स्वाध्यायोऽध्येतव्यः' (तै० आ० २।१५) इति ।

अध्येतारं पुरुषं तदीयप्रवासाभिज्ञानेन सखिवत् पालयतीति सखिविद् वेदः । बहुद्रव्यप्रयाससाध्यक्रतुफलस्य अध्ययनमात्रेण सम्पादनं तत्पालनम् । तदपि आम्नायते—

'यं यं क्रतुमधीते तेन तेनास्येष्टं भवत्यग्नेर्वायोरादित्यस्य सायुज्यं गच्छति' (तै० आ० २।१५) इति ।

यद्यपि एतद् ब्रह्मयज्ञस्वाध्यायफलं तथापि ग्रहणार्थाध्ययनमन्तरेण ब्रह्मयज्ञासम्भवात् तदीयफलमपि सम्पद्यते । ईदृशं सखिविदं वेदरूपं सखायं यः पुमान् अध्ययनमकृत्वा परित्यजति तस्य वाच्यपि भाग्यं नास्ति, फले भाग्यं नास्तीति किमु वक्तव्यम् । सकलदेवतानां धर्मस्य परब्रह्मतत्त्वस्य च प्रतिपादकं वेदमनुच्चार्य परनिन्दानृतकलहादिहेतुं लौकिकीं वार्त्तां सर्व्वत्रोच्चारयतः स्पष्ट एव वाचि भाग्याभावः । अत एवाम्नायते—

'नानुध्यायाद् बहून् शब्दान् वाचो विग्लापनं हि तत् ।'

(बृ० उ० ४।४।२१) इति ।

यद्यप्यसौ काव्यनाटकं शृणोति तथापि निरर्थकमेव तच्छ्रवणं तेन सुकृतमार्गज्ञानाभावादित्यर्थः ।

स्मृतिरपि—

योऽनधीत्य द्विजो वेदानन्यत्र कुरुते श्रमम् ।
स जीवन्नेव शूद्रत्वमाशु गच्छति सान्वयः ॥ (मनु० २।१६८) इति ।

एवमन्यान्यपि बहूनि वचनान्यत्र उदाहर्त्तव्यानि ।

ननु अधीते वेदे पश्चात् अध्ययनविध्यर्थज्ञानं, ज्ञाने सति पश्चाद् अध्ययनप्रवृत्तिरित्यन्योन्याश्रय इति चेत् ? बाढम्; अत एव गुरुमतानुसारिण आचार्य्यकर्तृ-

काव्यापनेन प्रवृत्तियुक्ति माणवकाध्ययनस्य महता प्रयासेन सम्पादयन्ति। मतान्तरानुसारिणस्तु प्रकाशात्मादयोऽध्ययनात् प्रागेव सन्ध्यावन्दनादिविधिज्ञानवत् पित्रादिभ्योऽध्ययनविज्ञानं वर्णयन्ति। यद्यध्यापनविधिप्रयुक्तिर्यदि वा स्वविधिप्रयुक्तिः, सर्वथापि उपनीतैरध्येतव्य एव वेदः। तस्य च अध्ययनस्य दृष्टार्थत्वम् अक्षरग्रहणान्तत्वं च पुरुषार्थानुशासने सूत्रितम्। तानि सूत्राणि तद्वृत्तिं च उदाहरामः—

अध्ययनस्य दृष्टार्थत्वं साधयितुं पूर्वपक्षयति—

'अदृष्टार्था त्वधीतिर्विहितत्वात्।' इति।

दृष्टफलसाधने भोजनादौ विध्यदर्शनाद् विहितमपि अध्ययनमदृष्टार्थमवगन्तव्यम्। अदृष्टविशेषो न श्रुत इति चेत्? तत्राह—

'घृतकुल्याद्यतिदेशः स्वर्गकल्पनं वा।' इतिं।

[1]ब्रह्मयज्ञजपाध्ययनार्थवादं नित्याध्ययनेऽतिदिश्य तत्रत्यं घृतकुल्यादिकं रात्रिसत्रन्यायेन[2] फलत्वेन कल्पनीयम्। ये तु अर्थवादातिदेशं नेच्छन्ति तैर्विश्वजिन्न्यायेन[3] स्वर्गः कल्पनीयः। दृष्टफलयोः संस्कारप्राप्त्योः सम्भवे कथमदृष्टकल्पना इत्यत आह—

'अयुक्ते संस्कारप्राप्ती।' इति।

संस्कृतस्वाध्यायस्य क्वचित् क्रतौ विनियोगादर्शनात् प्राप्तेः स्वयमपुरुषार्थत्वाच्च इत्यर्थः।

स्वाध्यायप्राप्तिरर्थप्रमितिहेतुतया पुरुषार्थ इत्याशङ्क्य विषनिर्हरणादिकार्य-

---

(१) 'यदृचोऽधीते पयसः कुल्यास्य पितॄन् स्वधा अभिवहन्ति; यद् यजूंषि घृतस्य कुल्या, यत् सामानि सोम एभ्यः पवते, यदथर्वाङ्गिरसो मधोः कुल्या'— (तै० आ० २—१०)।

(२) रात्रिसत्रन्यायः—रात्रिसत्रविधेः फलं न श्रुतम्, परं तस्य स्तावकेऽर्थवादे फलं श्रूयते—'प्रतितिष्ठन्ति ह वा एते, य एता रात्रीरुपयन्ति' इति, 'ब्रह्मवर्चस्विनोऽन्नादा भवन्ति, य एता उपयन्ति' इति च (ताण्ड्यमहाब्राह्मणम् २३—१४—७)। एतदार्थवादिकं फलं प्रत्यासन्नत्वाद् रात्रिसत्रविधेः फलत्वेन कल्पनीयम्। मी० ४।३।१७—१६।

(३) विश्वजिन्न्यायः—'विश्वजिता (यागेन) यजेत' इत्याम्नायते। परमत्र किमपि फलं न श्रूयते; किमपि फलमवश्यं कल्पनीयं, यतो भावना भाव्यमपेक्षते। विश्वजिन्नाम्ना यागेन किं कुर्य्यादित्याकाङ्क्षाया अनिवृत्तेः, अन्यथा निरधिकारत्वाद् अनुष्ठाने विधिर्निरर्थकः स्यात्। स्वर्गस्य दुःखमिश्रितत्वाभावान्निरतिशयसुखत्वाच्च सर्व्वपुरुषाणामिष्टत्वात् स्वर्ग एव विश्वजितः फलम्। मी० ४।३।१५—१६।

विनियुक्तमन्त्रवद् अध्ययनाङ्गतया विनियुक्तानां ज्योतिष्टोमादिवाक्यानां न स्वार्थे प्रामाण्यमित्याह—

'अन्याङ्गं नार्थप्रमापकम् ।' इति ।

अध्ययनविधायकं तु वाक्यं स्वविहिताध्ययनस्यैव अङ्गमिति कृत्वा स्वार्थप्रमाणमित्याह—

'अध्ययनवाक्यमनन्याङ्गम् ।' इति ।

ननु एवमदृष्टार्थत्वे कर्म्मकारकभूतस्वाध्यायगतफलाभावाद् 'अध्येतव्यः' इति कर्मवाची तव्यप्रत्ययो विरुध्येत इत्यत आह—

'सक्तुवत् करणपरिणामः ।' इति ।

'सक्तून्जुहोति' इत्यत्र कर्मत्वेन प्रधानभूतान् सक्तून् उद्दिश्य होमसंस्कारविधाने प्रतीयमानेऽपि होमसंस्कृतानां भस्मीभूतानां सक्तूनामन्यत्र विनियोगाभावात् कर्मप्राधान्यं हित्वा सक्तुभिर्जुहोतीति करणपरिणामः कृतः । एवमत्रापि कर्मगतयोः संस्कारप्राप्त्योरसम्भवात् स्वाध्यायेन अधीयीत इति वाक्यपरिणामः कर्तव्यः ।

इदानीं दृष्टफले सति अदृष्टफलं न कल्प्यमिति सिद्धान्तयति—

'दृष्टे तु नादृष्टम्' ।' इति ।

किं तद् दृष्टफलमिति तदाह—

'दृष्टौ प्राप्तिसंस्कारौ' इति ।

अक्षरप्राप्तेः परम्परया पुरुषार्थत्वमाह—

'प्राप्त्यार्थबोधः' इति ।

न च भोजनादिवद् अन्वयव्यतिरेकसिद्धत्वाद् विधिवैयर्थ्यमिति शङ्कनीयम् । अवघातादिवन्नियमादृष्टाय विध्युपपत्तेरित्याह—

'विधिर्निष्पत्त्याः' इति ।

यत्तूक्तं संस्कृतस्य स्वाध्यायस्य विनियोगादर्शनान्न संस्कार इति, तत्राह—

'संस्कारसिद्धिः क्रत्वध्ययनविधिद्वयोपादानात्' इति ।

क्रतुविधयो हि विषयावबोधमपेक्षमाणास्तदवबोधे स्वाध्यायं विनियुञ्जते । अध्ययनविधिश्च लिखितपाठादिव्यावृत्त्या अध्ययनसंस्कृतत्वं स्वाध्यायस्य गमयति । अत उभयोपादानात् तत्सिद्धिः ।

ननु संस्कारो नाम अदृष्टातिशयः । स च न स्वाध्यायगतः, तव्यप्रत्ययेन स्वपदोपात्तकृत्यर्थभूताध्ययनोपरक्तापूर्वाभिधानात् । ततः कथं स्वाध्यायस्य संस्कृतत्वम् इति तत्राह—

'तव्यः कर्मगादृष्टवाची' इति ।

अत्र तव्यप्रत्ययस्य कर्माभिधायितया कर्मकारकस्य स्वाध्यायस्य तव्यप्रत्ययं प्रति प्रकृत्यर्थादध्ययनादपि प्रत्यासन्नत्वात् स्वाध्यायगतमेव अपूर्वं तव्यप्रत्ययो वक्ति, अपूर्वस्य धात्वर्थजन्यत्वनियमेऽपि तदुपरक्तत्वानियमादिति भावः ।

यच्चोक्तम् 'अन्याङ्गं नार्थप्रमापकम्' इति, तदसत्, यतो मन्त्राणां स्वतन्त्रादृष्टशेषाणां तथात्वं युज्यते । इह तु स्वाध्यायाश्रितमदृष्टम्; तस्य च स्वाध्यायगताक्षरसामर्थ्यसिद्धार्थावबोधे फले सति फलान्तरकल्पनायोगात् प्रामाण्यस्य उपबृंहकमेव अदृष्टं, न तु प्रतिबन्धकमित्याह—

'स्वतन्त्रादृष्टाशेषत्वान्न स्वार्थप्रमा प्रतिबध्यते' इति ।

सक्तुन्यायेन कर्मकारकप्राधान्ये परित्यक्ते स्वतन्त्रादृष्टमेव अत्रापि स्यादित्यत्राह—

'यथाश्रुतोपपत्तेर्न सक्तुन्यायः' इति ।

सक्तुषु गत्यभावात् श्रुतं परित्यज्य अश्रुतं कल्प्यतां नाम । नेह तद् युक्तं, प्रदर्शितत्वादित्यर्थः ।

इत्थमध्ययनविधेर्दृष्टार्थत्वं प्रसाध्य अर्थावबोधपर्यन्ततां निराकर्तुं पूर्वपक्षयति—

'वैधमर्थनिर्णयं भट्टगुरू विधेः पुमर्थावसानात्' इति ।

सर्वत्र विधेः पुरुषार्थपर्यवसायित्वनियमाद् अत्रापि पुरुषार्थभूतं फलवदर्थनिश्चयमयमध्ययनविधिप्रयुक्तं भट्टगुरू मन्येते ।

ननु सकृदध्ययनाद् आवृत्तिसहिताद् वा अर्थनिश्चयो नोपलभ्यते इत्याशङ्क्य, तथा सति तत्सिद्धये सोऽध्ययनविधिरर्थनिश्चयहेतुं विचारं कल्पयिष्यति इत्याह—

'स विचारमाक्षिपेत्' इति ।

ननु स्वविधेयतदुपकारिणोरेव विधिः प्रयोजक इति सर्वत्र नियमः, तथा सति अतादृशं कथमत्र अध्ययनविधिराक्षेप्स्यतीत्याह—

'अविधेयानुपकार्याक्षेपोऽवघातावृत्तिवत्' इति ।

'व्रीहीन् अवहन्ति' इत्यत्र अवघातमात्रं विधेयं, न तु तदावृत्तिः, तस्या अधात्वर्थत्वात् । नापि सा विधेयोपकारिणी, अन्तरेण आवृत्तिं सकृन्मुसलघातमात्रादवघातसिद्धेः । तथापि तण्डुलनिष्पत्तिफलसिद्धये स विधिरावृत्तिं यद्वद् आचिक्षेप तद्वत् प्रकृतेऽपि अवगन्तव्यम् ।

ननु वेदमात्राध्यायिनोऽर्थावबोधानुदयेऽपि व्याकरणाद्यङ्गसहितवेदाध्यायिनस्त-

दुदयसद्भावात् तं प्रति व्यर्थं विचारं विधिर्न कल्पयेदित्याशङ्क्य अर्थगतविरोध-परिहाराय अपेक्षित एव विचार इत्याह—

'साङ्गाध्ययनात् तद्भावे विचारोऽर्थविरोधापनुत्' इति ।

सिद्धान्तयति—

'प्राप्तेस्तु गवादिवत् पुमर्थत्वाद् विधिस्तदन्तः' इति ।

यथा फलभूतस्य क्षीरादेर्हेतवो गवादयोऽपि पुरुषैरर्थ्यन्ते, तथा फलवदर्थाव-बोधहेतोरक्षरप्राप्तेरपि पुरुषार्थत्वात् अध्ययनविधिरक्षरप्राप्त्यवसानोऽवगन्तव्यः ।

ननु अक्षरप्राप्तेः पुरुषार्थत्वं फलवदर्थावबोधप्रयुक्तं चेत् तर्हि तद्बोधस्य मुख्य-पुरुषार्थत्वाद् बोधान्त एव विधिः किं न स्यादित्यत आह—

'फलवद् बोधान्तत्वेऽध्ययनाकार्त्स्न्यम्' इति ।

बोधस्य हि फलं कर्मानुष्ठानम् । तथा सति यस्य ब्राह्मणादेर्यस्मिन्[1] 'बृहस्पति-सवादौ अधिकारस्तस्य तद्वाक्यमात्राध्ययनं स्यात्, न तु राजसूयादिवाक्याध्ययनम्, तत्र प्रवृत्त्यादिफलाभावात् ।

स्वपक्षे तु नायं दोष इत्याह—

'कृत्स्नप्राप्तिर्जपार्था' इति ।

न च अबोधकत्वे अर्थावबोध एव न सिध्येदिति शङ्कनीयम्, प्रमाणस्य प्रमेय-बोधकत्वस्वाभाव्यात्, लौकिकाप्तवाक्यानामन्तरेणैव विधिं बोधकत्वदर्शनादित्याह—

'लोकवन्नजो बोधः' इति ।

ननु बोधस्य विधिफलत्वे बोधकाममुद्दिश्य विधातुं शक्यत्वात् सुलभोऽधिकारी स्यादित्याशङ्क्य, प्राप्तिपक्षेऽपि प्राप्तिकाम उपनीताष्टवर्षब्राह्मणोऽत्राधिकारी सुलभ एव इति परिहारं स्पष्टत्वादुपेक्ष्य बोधस्य काम्यत्वं दूषयति—

'सोऽकाम्यः प्राग्बोध्यमानाभानयोः' इति ।

बोध्यस्य अग्निहोत्रादिलक्षणवेदार्थस्य अध्ययनात् प्राक् सन्ध्योपासनादिवत् पित्राद्युपदेशत एव भाने सिद्धत्वादेव सोऽर्थबोधो न काम्यः । अभाने कामयितुम-शक्यः, ज्ञाते एव विषये कामनानियमात् ।

ननु सामान्यतो ज्ञाते विशेषतो बुभुत्सा सम्भवति । यद्वा विशेषतोऽपि पित्राद्यु-पदेशाद् अवगते सति औपदेशिकज्ञानस्य प्रामाण्यनिर्णयाय पुनर्बोधकामना युक्तैव इत्याशङ्क्य, एवमपि अर्थावबोधमुद्दिश्य अध्ययनविधानं न सम्भवति इत्याह—

---

१. 'यः पुरोधाः स्यात् स बृहस्पतिसवेन यजेत'—तै० आ० २।७।१

'उद्देशायोगात्' इति ।

अग्निहोत्रादिविशेषज्ञानानां न तावदेकबुद्ध्या विशेषाकारेण उद्देशः सम्भवति, अनन्तत्वात्; सामान्याकारेण उद्देशे सामान्यमेव विधिफलं स्यात्, न तु ज्ञानविशेषः । ततो नोद्देशो युक्तः ।

ननु अर्थावबोधमुद्दिश्य उच्चारणाभावे वेदस्य स्वार्थे तात्पर्यं न स्यादित्याशङ्क्य उपक्रमादिलिङ्गगम्यं तात्पर्यं शब्दबलादेव सिध्यति इत्याह—

'तात्पर्यं शब्दात्' इति ।

तर्हि अर्थज्ञानमुद्दिश्य शब्दोच्चारणं लोके व्यर्थं स्याद् इति चेत्, न, पुरुषसम्बन्धकृतदोषाख्यप्रतिबन्धपरिहारार्थत्वाद् इत्याह—

'उद्दिश्य उच्चारणं दोषघ्नं लोके' इति ।

ननु अध्ययनविधेर्बोधान्तत्वाभावे विचारकशास्त्रं न प्रवर्तेत, प्रयोजकाभावादित्याशङ्क्याह—

'विचार उत्तरविधिप्रयुक्त उपपद्यते' इति ।

क्रतुबोधविधयः साङ्गवेदाध्ययनाद् आपातप्रतिपन्ना विरोधपरिहारेण प्रतिष्ठितं निर्णयज्ञानमन्तरेण अनुष्ठापयितुमशक्नुवन्तस्तन्निर्णयाय क्रतुविचारं प्रयोजयन्ति । श्रवणविधिस्तु[1] साक्षादेव ब्रह्मविचारं विधत्ते । एवं च सति, श्रवणविधेः स्वविधेयप्रयोजकत्वं क्रतुविधीनां च विधेयोपकारिप्रयोजकत्वम् इत्युपपद्यतेतराम् । अध्ययनविधिप्रयुक्तिपक्षे तु तद्विधेः क्रतुद्वारा स्वर्गसिद्धिपर्यन्तत्वात् क्रत्वनुष्ठानस्यापि तत्प्रयुक्तौ क्रतुविधिवैयर्थ्यमापद्येत ।

ननु अध्ययनविधेस्त्रैवर्णिकमात्रं प्रति नित्यत्वात् तत् प्रयुक्तौ विचारस्यापि तल्लभ्येत, नान्यथेति चेत् ? क्रतुविचारस्य त्रैवर्णिकमात्रेऽपि नित्यत्वसिद्धिः किं वा ब्रह्मविचारस्य ? तत्राद्योऽस्मन्मतेऽपि सम इत्याह—

'अतो नित्यः क्रतुविचारस्त्रैवर्णिकमात्रस्य' इति ।

यतोऽकरणे प्रत्यवायश्रवणात् क्रतवस्त्रैवर्णिकानां नित्या अत इत्यर्थः ।

द्वितीयोऽनिष्ट इत्याह—

'ब्रह्मविचारः पुनः परमहंसस्यैव' इति ।

नित्य इत्यनुषङ्गः ।

ननु उक्तरीत्या अध्ययनस्य अक्षरग्रहणान्तत्वेऽर्थज्ञानमविहितं स्यात् ? मैवम्,

---

१. 'आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्यः' बृह० उप० २।४।५

वाक्यान्तरेण तद्विधानात्—'ब्राह्मणेन निष्कारणो धर्मः षडङ्गो वेदोऽध्येयो ज्ञेयश्चे'ति (महाभाष्यपस्पशाह्निके) तद्विधिः । तत्र निष्कारणशब्दे अध्ययनज्ञानयोः काम्यत्वं निवार्यते ।

मन्त्रप्रतिपाद्या अवेदार्थज्ञस्य निन्दा वेदार्थस्य प्रशंसा च— अर्थज्ञाने पुरुषप्रवृत्तिकरं वचनद्वयं शाखान्तरगतं निरुक्तकारो यास्क (नि० १।१८) एवमुदाजहार ।

'अथापि ज्ञानप्रशंसा भवत्यज्ञाननिन्दा च ।
स्थाणुरयं भारहारः किलाभूदधीत्य वेदं न विजानाति योऽर्थम् ।
योऽर्थज्ञ इत् सकलं भद्रमश्नुते नाकमेति ज्ञानविधूतपाप्मा ॥
यद् गृहीतमविज्ञातं निगदेनैव शब्दचते ।
अनग्नाविव शुष्कैधो न तज्ज्वलति कर्हिचित् ॥'

(निरु० १।१८) इति ।

अस्मिन् मन्त्रद्वये 'योऽर्थज्ञ इदि'त्यनेनैव अर्धेन वेदार्थज्ञानं प्रशस्यते, इतरेण अर्धत्रयेण ज्ञानराहित्यं निन्द्यते । यो वेदार्थं जानाति सोऽयमिह लोके सकलं श्रेयः प्राप्नोति । तथा तेन ज्ञानेन पापक्षये सति मृतः स्वर्गं प्राप्नोति । तदेतद् ऐहिकामुष्मिकं च ज्ञानफलं तैत्तिरीया मन्त्रोदाहरणेन तदीयतात्पर्याभिधायिब्राह्मणेन च स्पष्टीचक्रुः—'तदेवाभ्युक्ता–'ये अर्वाङुत वा पुराणे वेदं विद्वांसमभितो वदन्त्यादित्यमेव ते परिवदन्ति, सर्वेऽग्निं द्वितीयं तृतीयं च हंसमिति' ।

'यावतीर्वै देवतास्ताः सर्वा वेदविदि ब्राह्मणे वसन्ति । तस्माद् ब्राह्मणेभ्यो वेदविद्भ्यो दिवे दिवे नमस्कुर्यान्नाश्लीलं कीर्तयेदेता एव देवताः प्रीणाति' (तै० आ० २।१५) इति ।

वेदं विद्वान् अर्थाभिज्ञः पुरुषः स च द्विविधः । अर्वाचीनकाले समुत्पन्नश्चतुर्दशविद्यास्थानकुशलः कश्चिदुपाध्यायः, पुरातनकाले समुत्पन्नो व्यासादिश्च । तमेतमुभयविधं विद्वांसं विद्यामदधनमदकुलमदोपेताः पण्डितम्मन्या ये पुरुषा अभितो विद्यादिषु दूषयन्ति ते सर्वेऽपि आदित्यमेव प्रथमं सर्वतो दूषयन्ति, आदित्यापेक्षया द्वियीयमग्निं दूषयन्ति, तदुभयापेक्षया तृतीयं हंसं दूषयन्ति । हन्ति सदा गच्छतीति हंसो वायुः ।

अग्न्यादिरूपत्वञ्च वेदविद आम्नातम्—'अग्नेर्वायोरादित्यस्य सायुज्यं गच्छति' (तै० आ० २।१५) इति । न केवलमेतद् देवतात्रयं किन्तु सर्वा अपि देवता वेदविदि वसन्ति । तस्माद् ब्राह्मणान् वेदविदो दृष्ट्वा स्मृत्वा वा प्रतिदिनं नमस्कुर्यात् ।

न तु तस्मिन् विद्यमानमपि दोषं कीर्तयेत् । एवं सति तत्तन्मन्त्रार्थभूताः सर्वा अपि देवता वेदार्थविदा स्मर्यमाणतया तदीयहृदये अवस्थिता अयं नमस्कर्ता तोषयति । न चैतद् अध्ययनस्यैव फलमिति शङ्कनीयम्—'विद्वास' (तै० आ० २।१५) इत्याम्नातत्वात् । अन्यथा वेदमधीयानमित्याम्नायेत । तस्मात् सर्वदेवता-बुद्ध्या प्राणिभिः पूज्यस्य वेदार्थविदो लोकद्वयेऽपि श्रेयःप्राप्तिरुपपद्यते ।

यस्तु वेदमधीत्यापि अर्थं न विजानाति सोऽयं पुमान् भारमेव हरति धारयति । स्थाणुरिति दृष्टान्तः । छिन्नशाखं शुष्कं वृक्षमूलं स्थाणुशब्देन उच्यते । स च इन्धनार्थमेवोपयुज्यते न तु पुष्पफलार्थम्, तथा केवलपाठकस्य व्रात्यत्वं न भवतीत्येतावदेव, न हि अनुष्ठानं स्वर्गादिफलासिद्धिर्वास्ति । किल इत्यनेन लोकप्रसिद्धिर्द्योत्यते । लोकेऽपि पाठकस्य यावती धनादिपूजा ततोऽप्यधिका विदुषि दृश्यते ।

किञ्च, यद्वेदवाक्यम् आचार्याद् गृहीतम् अर्थज्ञानरहितं पाठरूपेण एव पुनः पुनरुच्चार्यते, तत् कदाचिदपि न ज्वलति स्वार्थं न प्रकाशयति । यथा अग्निरहित-प्रदेशे प्रक्षिप्तं शुष्ककाष्ठं न ज्वलति तद्वत् । तथा सति तस्य वाक्यस्य वेदत्वमेव मुख्यं न स्यात् ।

अलौकिकं पुरुषार्थोपायं वेत्ति अनेन इति वेदशब्दनिर्वचनम् ।

तथा चोक्तम्—

'प्रत्यक्षेणानुमित्या वा यस्तूपायो न बुध्यते ।
एतं विदन्ति वेदेन तस्माद् वेदस्य वेदता ॥' इति ।

अतो मुख्यवेदत्वसिद्धये ज्ञातव्य एव तदर्थः ।

किं चात्र यास्केन (नि० १।१९) काचिदन्यापि ऋगुदाहृता—

उत त्वः पश्यन् न ददर्श वाचमुत त्वः शृण्वन् न शृणोत्येनाम् ।
उतो त्वस्मै तन्वं विसस्रे जायेव पत्य उशती सुवासाः ॥

(ऋ० सं० १०।७१।४) इति ।

तत्र पूर्वार्द्धस्य तात्पर्यं स एव दर्शयति,—'अप्येकः पश्यन् न पश्यति, वाचमपि च शृण्वन् न शृणोति, एनामिति अविद्वांसमाह अर्धम्' इति । अस्यायमर्थः—यः पुमान् अर्थं न वेत्ति तं प्रति पूर्वार्धेन मन्त्रो ब्रूते । एकः पुरुषः पाठमात्रपर्यवसितो वेदरूपां वाचं पश्यन्नपि न सम्यक् पश्यति, एकवचनबहुवचनादिविवेकाभावे पाठशुद्धेरपि कर्तुमशक्यत्वात् । 'वायुमेव स्वेन भागधेयेन उप धावति स एव एनं भूतिं गमयति'; 'आदित्यानेव स्वेन भागधेयेन उप धावन्ति त एनं भूतिं गमयन्ति', तै० सं० २।१।१।१) इत्यादौ अव्युत्पन्नः कथं पाठं निश्चिनुयात् ? अन्यः कश्चिद्

अर्थज्ञानाय व्याकरणाद्यङ्गानि शृण्वन्नपि मीमांसाराहित्यादेनां वेदरूपां वाचं न सम्यक् शृणोति । 'तावतोऽश्वान् प्रतिगृह्णीयात्तावतो वारुणांश्चतुष्कपालान्निर्वपेद्' (तै० सं० २।३।१२।१) इत्यत्र व्याकरणमात्रेण प्रतिग्रहीतुरिष्टिः प्रतीयते । मीमांसायां तु न्यायेन दातुरिति निर्णीतम् (जै० सू० ३।४।३०), तस्मादुभय-विधमपि अविद्वांसं प्रति एवमाह इति ।

तृतीयपादतात्पर्यं दर्शयति,—'अप्येकस्मै तन्वं विसस्रे' इति । स्वमात्मानं विवृणुते, 'ज्ञानं प्रकाशनमर्थस्याहानया वाचा' इति । अस्यायमर्थः—अपिशब्द-पर्याय उतोशब्दः । स च पूर्वोक्तानभिज्ञवैलक्षण्याय अत्र प्रयुक्तः, निपातानामनेकार्थ-त्वात् । यः पुमान् व्याकरणाद्यङ्गैः स्वशब्दार्थं मीमांसया तात्पर्यं च शोधयितुं प्रवृत्तस्तस्मै एकस्मै वेदः स्वकीयां तनुं विसस्रे । स्वमित्यादिकं पदव्याख्यानम् । ज्ञानमित्यादिकं तात्पर्यव्याख्यानम् । वेदार्थप्रकाशनक्षमं सम्यग्ज्ञानम् अनया तृतीयपादरूपया वाचा मन्त्र आह इति ।

चतुर्थपादतात्पर्यं दर्शयति—उपमोत्तमया वाचा,—'जायेव पत्ये कामयमाना सुवासाः ऋतुकालेषु सुवासाः कल्याणवासाः कामयमाना ऋतुकालेषु यथा स एनां पश्यति स शृणोतीत्यर्थज्ञप्रशंसा' इति । अस्यायमर्थः—उत्तमया चतुर्थपादरूपया वाचा तृतीयपादार्थस्य उपमा उच्यते । उशतीत्येतस्य व्याख्यानं कामयमानेति । यद्यपि अह्नि गृहकृत्यवेलायां मलिनवासास्तथापि सम्भोगकालेषु कल्याणवासा भवति । तत्र हेतुः । कामयमाना ऋतुकालेषु इति । तथा स पतिरेनां जायां साकल्येन आदरयुक्तः पश्यति, किञ्च तयोक्तमर्थं हितबुद्ध्या शृणोति, यथायं चतुर्दशविद्यास्थानपरिशीलनोपेतः पुरुषो वेदार्थरहस्यं सम्यक् पश्यति, वेदोक्तं च धर्मब्रह्मरूपमर्थं हितबुद्ध्या स्वीकरोति । सेयमुक्ता वेदार्थाभिज्ञस्य प्रशंसा । इति ।

पुनरपि ऋगन्तरं यास्क (निरु० १।२०) उदाजहार—'तस्योत्तरा भूयसे निर्वचनाय—

उत त्वं सख्ये स्थिरपीतमाहुर्नैनं हिन्वन्त्यपि वाजिनेषु ।
अधेन्वा चरति माययैष वाचं शुश्रुवाँ अफलामपुष्पाम् ॥'

(ऋ० सं० १०।७१।५) इति ।

अमयर्थः । पूर्वोदाहृतायाः 'उत त्वः पश्यन्' इत्यादिकाया ऋचोऽनन्तरमेव आम्नाता काचिद् ऋक् तस्य पूर्वोक्तमन्त्रार्थस्य भूयसे निर्वचनाय सम्पद्यते । तमर्थम् अतिशयेन प्रतिपादयितुं प्रभवति चेत् ? तदुच्यते । अपि चैकं चतुर्दश-

विद्यास्थानकुशलं पुरुषं वेदरूपाया वाचः सख्ये स्थित्वा स्थैर्येण वेदोक्तार्थामृतपानयुक्तमाहुः, अभिज्ञाः कथयन्ति। 'सखिविदं सखायम्' (तै० आ० २।१५) इति मन्त्रे वेदस्य सखित्वमुदाहृतम् । यद् वा स्वर्गलोके वेदानां सख्ये स्थित्वा अतिशयेन पीतामृतमाहुः । वाचामिना ईश्वराः सभासु प्रगल्भा वा वाजिनाः । तेषु मध्येऽपि एनं वेदार्थकुशलं चोदयितुं न हिन्वन्ति, न केऽपि प्राप्नुवन्ति । तेन सह विवदितुमसमर्थत्वात् । यस्तु अन्यः पाठमात्रपरः पुष्पफलरहितां वाचं शुश्रुवान् भवति । पूर्वकाण्डोक्तस्य धर्मस्य ज्ञानं पुष्पम् । उत्तरकाण्डोक्तस्य ब्रह्मणो ज्ञानं फलम् । यथा लोके पुष्पं फलस्य उत्पादकं तथा वेदानुवचनादिधर्मज्ञानम् अनुष्ठानद्वारा फलात्मकब्रह्मज्ञानेच्छां जनयति। 'तमेतं वेदानुवचनेन ब्राह्मणा विविदिषन्ति यज्ञेन दानेन तपसानाशकेन' (बृह० उप० ४।४।२२) इति श्रुतेः । यथा च फलं तृप्तिहेतुस्तथा ब्रह्मज्ञानं कृतकृत्यत्वहेतुः, यत् पूर्णानन्दैकबोधस्तद् ब्रह्माहमस्मीति कृतकृत्यो भवति' (परमहंसोपनिषद् ४) इति श्रुतेः । तादृशपुष्पफलरहितवेदपाठकः स एष पुमान् अधेन्वा मायया साह चरति । नवप्रसूतिका क्षीरस्य दोग्ध्री गौः प्रीतिहेतुत्वाद् धिनोतीति व्युत्पत्त्या धेनुरित्युच्युते । पाठमात्रपरं प्रति वेदरूपा वाग् धर्मज्ञानरूपं क्षीरं न दोग्धीत्यधेनुः । अत एवासौ माया कपटरूपा, ऐन्द्रजालिकनिर्मितगोसदृशरूपत्वात् । तया मायया सह चरन्नयं परमपुरुषार्थं न लभते इत्यर्थः । इत्थं यास्केन ज्ञानस्तुत्यज्ञाननिन्दोदाहरणस्य प्रपञ्चितत्वात् । यच्च स्तूयते तद् विधीयते इति न्यायेन अध्ययनवदर्थस्यापि विधिरभ्युपगन्तव्यः ।

किञ्च, नक्षत्रेष्टिकाण्डे प्रतीष्टिफलवाक्यं यागतद्वेदनयोः समानमेव आम्नायते—'यथा ह वा अग्निर्देवानामन्नादः, एवं ह वा एष मनुष्याणां भवति य एतेन हविषा यजते य उ चैनदेवं वेद' (तै० ब्रा० ३।१।४।१) इति । अतो यागवत् फलाय स्ववेदनमपि विधीयते । अनेन न्यायेन सर्वेष्वपि ब्राह्मणेषु वेदनविधयो द्रष्टव्याः ।

ननु 'विद्याप्रशंसो' (जै० १।२।१५) इति सूत्रे वेदनफलानां प्रशंसारूपत्वं जैमिनिना सूत्रितमिति चेत् ? अस्तु नाम । विद्यमानेनापि फलेन प्रशंसितुं शक्यत्वात् । दर्शयागस्य पूर्णमासयागस्य च अतिपाते सति प्रायश्चित्तरूपां वैश्वानरेष्टिं विधातुं विद्यमानेनैव स्वर्गफलेन स्तुतिः क्रियते—'सुवर्गाय हि लोकाय दर्शपूर्णमासा-विज्येते' (तै० सं० २।२।५।४) इति । एतच्चाचार्यैर्ब्रह्मज्ञानफलवाक्यस्य स्वार्थेऽपि तात्पर्यं दर्शयितुमुदाहृतम्—

इच्छाम्येवार्थवादत्वं वचसोऽन्यपरत्वतः ।
यथावस्त्वभिधायित्वान्न त्वभूतार्थवादता ॥

इज्येते स्वर्गलोकाय दर्शादर्शौ यथा तथा।
न त्वभूतार्थवादत्वं पापश्लोका श्रुतिर्यथा॥

(बृ० उ० वा० १२७–१२८) इति। न च वेदनमात्रेण फलसिद्धौ अनुष्ठान-वैयर्थ्यमिति शङ्कनीयम्, फलभूयस्त्वेन परिहृतत्वात्।

उदाहृतश्चात्र जैमिनिसूत्रम्—

फलस्य कर्मनिष्पत्तेस्तेषां लोकवत् परिमाणतः सारतो वा फलविशेषः स्यात्।
(जै० सू० १।२।१७) इति।

एतच्चास्माभिः 'तरति ब्रह्महत्यां योऽश्वमेधेन यजते य उ चैनमेवं वेद' (तै० सं० ५।३।१२।२) इत्युदाहरणेन व्याख्यातम्।

छन्दोगाश्च केवलादनुष्ठानाद् विद्यासहितेऽनुष्ठाने फलातिशयमामनन्ति—'तेनोभौ कुरुतो यश्चैतदेवं वेद यश्च न वेद। नाना तु विद्या चाविद्या च। तदेव विद्यया करोति श्रद्धयोपनिषदा तदेव वीर्यवत्तरं भवति' (छा० उप० १।१।१०) इति। यद्यप्यङ्गावबद्धोपास्तिरत्र विद्याशब्देन विवक्षिता, तथापि न्यायः सर्वास्वपि विद्यासु समानः।

कुतस्तव एतावती वेदने भक्तिरिति चेत्? कुतो वा तवैतावान् प्रद्वेषः। प्रशंसा त्वस्माभिर्भूयसी दर्शिता, निन्दा तु न क्वापि उपलभामहे। किन्तु कर्मजन्यमपूर्वं यथा मरणादूर्ध्वं जीवेन सह गच्छति तथा विद्याजन्यमपि अपूर्वं गच्छति। तथा च वाजसनेयिन आमनन्ति—'तं विद्याकर्मणी समन्वारभेते पूर्वप्रज्ञा च' (श० ब्रा० १४।७।२।३ बृह० उप ४।४।२) इति। तस्माद् अध्ययनवद् अर्थज्ञानस्यापि विहितत्वाद् अर्थज्ञानाय वेदो व्याख्यातव्यः।

वेदस्य विषयप्रयोजनाद्यनुबन्धचतुष्टयस्य निरूपणम्

विषयप्रयोजनसम्बन्धाधिकारिज्ञानमन्तरेण श्रोतृप्रवृत्त्यभावाद् विषयादयो निरूप्यन्ते। व्याख्यानस्य व्याख्येयो वेदो विषयः। तदर्थज्ञानं प्रयोजनम्। व्याख्यानव्याख्येयभावः सम्बन्धः। ज्ञानार्थी चाधिकारी। यद्यपि एतावत् प्रसिद्धं तथापि वेदस्य विषयाद्यभावे व्याख्यानस्यापि परमविषयादिकं न स्यात्। अतो वेदस्य तच्चतुष्टयमुच्यते।

वेदे पूर्वोत्तरकाण्डयोः क्रमेण धर्मब्रह्मणी विषयः, तयोरनन्यलभ्यत्वात्। तथा च पुरुषार्थानुशासने सूत्रितम्—'धर्मब्रह्मणी वेदैकवेद्ये' इति। जैमिनीये च द्वितीयसूत्रे चोदनैव धर्मे प्रमाणं, चोदना प्रमाणमेव इति नियमद्वयं सम्प्रदायविद्भिरभिहितम्। चोदनैव इत्यमुमर्थम् उपपादयितुं चतुर्थसूत्रे प्रत्यक्षविषयत्वं धर्मस्य निराकृतम्—'प्रत्यक्षमनिमितं विद्यमानोपलम्भनत्वाद्' (जै० सू० १।१।४) इति।

अनुष्ठानादूर्ध्वम् उत्पत्स्यमानस्य धर्मस्य पूर्वमविद्यमानत्वात् न प्रत्यक्षयोग्यता अस्ति । उत्तरकालेऽपि रूपादिराहित्याद् न इन्द्रियैरवगम्यते । अत एव अदृष्टमिति सर्वैरभिधीयते । लिङ्गराहित्याद् न अनुमानविषयत्वमप्यस्ति । सुखदुःखे धर्माधर्मयोर्लिङ्गमिति चेत् ? बाढम् । अयमपि लिङ्गलिङ्गिभागो वेदेनैव गम्यते । ततश्चोदनैव धर्मे प्रमाणम् ।

वैयासिकस्य तृतीयसूत्रस्य द्वितीयवर्णके ब्रह्मणः सिद्धवस्तुनोऽपि शास्त्रैकविषयत्वं भाष्यकृद्भिर्व्याख्यातम् । शास्त्रादेव प्रमाणाद् जगतो जन्मादिकारणं ब्रह्म अधिगम्यते इत्यभिप्रायः (ब्र० सू० शा० भा० १।१।३) इति । श्रुतिश्च भवति—'नावेदविन्मनुते तं बृहन्तम्' (तै० ब्रा० ३।१२।९।७) इति । तत्रोपपत्तिः पूर्वाचार्यैरेवमुदीरिता—'रूपलिङ्गादिराहित्याद् नास्य मानान्तरयोग्यता' (वै० न्या० १।१।३।१८) इति । तस्माद् अनन्यलभ्यत्वाद् अस्ति धर्मब्रह्मणोर्वेदविषयत्वम् ।

तदुभयज्ञानं वेदस्य साक्षात् प्रयोजनम् । न च तस्य ज्ञानस्य, सप्तद्वीपा वसुमती, राजासौ गच्छति इत्यादिज्ञानवद् अपुरुषार्थपर्यवसायित्वं शङ्कनीयं, धर्मप्रयुक्तस्य पुरुषार्थस्य स्तूयमानत्वात् । 'धर्मो विश्वस्य जगतः प्रतिष्ठा, लोके धर्मिष्ठं प्रजा उपसर्पन्ति, धर्मेण पापमपनुदन्ति, धर्मे सर्वं प्रतितिष्ठम्; तस्माद् धर्मं परमं वदन्ति' (तै० आ० १०।६३) इति। उद्दण्डस्य राज्ञो नियामकत्वाद् विवदमानयोः पुरुषयोर्मध्ये दुर्बलस्यापि राजसाहाय्यवज्जयहेतुत्वाच्च धर्मः पुरुषार्थः । तथा च वाजसनेयिनः सृष्टिप्रकरणे समामनन्ति—'तच्छ्रेयोरूपमत्यसृजत धर्मं, तदेतत् क्षत्रस्य यद्धर्मस्तस्मात् धर्मात् परं नास्ति अथोऽबलीयान् बलीयांशमाशंसते धर्मेण, यथा राज्ञैवम्' (बृह० उप० १।४।१४) इति । 'ब्रह्मविदाप्नोति परम्' (तै० आ० ८।२), 'ब्रह्म वेद ब्रह्मैव भवति' (मुण्ड० उ० ३।२।९) 'तरति शोकमात्मवित्' (छा० उप० ७।१।३) इत्यादिश्रुतिषु ब्रह्मज्ञानप्रयुक्तः पुरुषार्थः प्रसिद्धः । तदुभयज्ञानार्थी वेदेऽधिकारी । स च त्रैवर्णिकः पुरुषः । स्त्रीशूद्रयोस्तु सत्यामपि ज्ञानापेक्षायाम् उपनयनाभावेन अध्ययनराहित्याद् वेदे अधिकारः प्रतिबद्धः । धर्मब्रह्मज्ञानं तु पुराणादिमुखेन उत्पद्यते । तस्मात् त्रैवर्णिकपुरुषाणां वेदमुखेन अर्थज्ञाने अधिकारः ।

सम्बन्धस्तु वेदस्य धर्मब्रह्मभ्यां सह प्रतिपाद्यप्रतिपादकभावः, तदीयज्ञानेन सह जन्यजनकभावः, त्रैवर्णिकपुरुषैः सह उपकार्योपकारकभावः । तदेवं विषयाद्यनुबन्धचतुष्टयमवगत्य समाहितधियः श्रोतारो वेदव्याख्याने प्रवर्तन्ताम् ।

अपरविद्यारूपाणां वेदस्य षडङ्गानां समुद्देशः

अतिगम्भीरस्य वेदस्य अर्थमवबोधयितुं शिक्षादीनि षडङ्गानि प्रवृत्तानि। अतएव तेषाम् अपरविद्यारूपत्वं मुण्डकोपनिषदि आथर्वणिका आमनन्ति—'द्वे विद्ये वेदितव्ये इति ह स्म यद् ब्रह्मविदो वदन्ति, परा चैवापरा च। तत्रापरा ऋग्वेदो यजुर्वेदः सामवेदोऽथर्ववेदः, शिक्षा कल्पो व्याकरणं निरुक्तं छन्दो ज्योतिषमिति। अथ परा 'यया तदक्षरमधिगम्यते' (मुण्ड० उ० १।१।४-५) इति। साधनभूतधर्मज्ञानहेतुत्वात् षडङ्गसहितानां कर्मकाण्डानाम् अपरविद्यात्वम्। परमपुरुषार्थभूतब्रह्मज्ञानहेतुत्वाद् उपनिषदां परविद्यात्वम्।

वेदाङ्गभूतायाः शिक्षाया लक्षणप्रयोजनपुरःसरं सम्यङ् निरूपणम्।

वर्णस्वराद्युच्चारणप्रकारो यत्र उपदिश्यते सा शिक्षा। तथा च तैत्तिरीया उपनिषदारम्भे समामनन्ति—'शिक्षां व्याख्यास्यामः। वर्णः, स्वरः, मात्रा, बलं, साम, सन्तान इत्युक्तः शिक्षाध्यायः' (तै० उ० १।१) इति। वर्णोऽकारादिः। स च अङ्गभूतशिक्षाग्रन्थे स्पष्टमुदीरितः—

'त्रिषष्टिश्चतुःषष्टिर्वा वर्णाः शम्भुमते मताः।
प्राकृते संस्कृते चापि स्वयं प्रोक्ता स्वयम्भुवा॥'
(पा० शि० ३) इत्यादिना।

स्वर उदात्तादिः। सोऽपि तत्रोक्तः—

'उदात्तश्चानुदात्तश्च स्वरितश्च स्वरास्त्रयः।' (पा० शि० ११)। इति।

मात्रा ह्रस्वादिः। सापि तत्र उक्ता—

'ह्रस्वो दीर्घः प्लुत इति कालतो नियमा अचि।' (पा० शि० ११) इति।

बलं स्थानप्रयत्नौ। तत्र 'अष्टौ स्थानानि वर्णानाम्' (पा० शि० ११) इत्यादिना स्थानमुक्तम्। 'अचोऽस्पृष्टा, यणस्त्वीषद्' (पा० शि० ३८) इत्यादिना प्रयत्न उक्तः—

सामशब्देन साम्यमुक्तम्, अतिद्रुतातिविलम्बितगीत्यादिदोषराहित्येन माधुर्यादिगुणयुक्तत्वेन उच्चारणं साम्यम्। 'गीती शीघ्री शिरःकम्पी' (पा० शि० ३२) इत्यादिना, 'उपांशु दष्टं त्वरितम्' (पा० शि० ३५) इत्यादिना च दोषा उक्ताः। 'माधुर्यमक्षरव्यक्तिः' (पा० शि० ३३) इत्यादिना गुणा उक्ताः।

सन्तानः संहिता—'वायवायाहि' (ऋ० सं० १।२।१) इत्यत्रावादेशः, 'इन्द्राग्नी आगतम्' (ऋ० सं० ३।१२।१) इत्यत्र प्रकृतिभावः। एतच्च व्या-

करणेऽभिहितत्वात् शिक्षायाम् उपेक्षितम् । शिक्ष्यमाणवर्णातिवैकल्ये बाधस्तत्रोदाहृतः—

'मन्त्रो हीनः स्वरतो वर्णतो वा मिथ्याप्रयुक्तो न तमर्थमाह ।
स वाग्वज्रो यजमानं हिनस्ति यथेन्द्रशत्रुः स्वरतोऽपराधात् ॥'.

(पा० शि० ५२) इति ।

'इन्द्रशत्रुर्वर्धस्व (तै० सं० २।४।१२।१) इत्यस्मिन् मन्त्रे इन्द्रस्य शत्रुर्घातकः इत्यस्मिन् विवक्षितेऽर्थे तत्पुरुषसमासे 'समासस्य' (पा० अ० ६।१।२२३) इति सूत्रेण तत्पुरुषत्वाद् अन्तोदात्तेन भवितव्यम् । आद्युदात्तस्तु प्रयुक्तः । तथा सति पूर्वपदप्रकृतिस्वरत्वेन बहुव्रीहित्वाद् इन्द्रो घातको यस्य इत्यर्थः सम्पन्नः । तस्मात् स्वरवर्णाद्यपराधपरिहाराय शिक्षाग्रन्थोऽपेक्षितः ।

कल्पस्योपयोगव्युत्पत्ति-प्रदर्शनपूर्वकं निरूपणम्

कल्पस्तु आश्वलायनापस्तम्बबौधायनादिसूत्रम्, कल्प्यते समर्थ्यते यागप्रयोगोऽत्र इति व्युत्पत्तेः ।

ननु आश्वलायनः किं मन्त्रकाण्डमनुसृत्य प्रवृत्तः किं वा ब्राह्मणमनुसृत्य । नाद्यः, 'दर्शपूर्णमासौ तु पूर्वं व्याख्यास्यामः' (आ० श्रौ० सू० १।१) इत्येवं तेनोपक्रान्तत्वात् । 'न हि अग्निमीळे' (ऋ० सं० १।१।१) इत्यादयो मन्त्रा दर्शपूर्णमासयोः क्वचिद् विनियुक्ताः । न द्वितीयः, 'आग्नावैष्णवं पुरोडाशं निर्वपन्ति दीक्षणीयमेकादशकपालम्' (ऐत० ब्रा० १।१) इत्येवं दीक्षणीयेष्टेर्ब्राह्मणे प्रक्रान्तत्वात् ।

अत्रोच्यते—मन्त्रकाण्डो ब्रह्मयज्ञादिजपक्रमेण प्रवृत्तो न तु यागानुष्ठानक्रमेण । ब्रह्मयज्ञश्चैवं विहितः—'यत् स्वाध्यायमधीयीतैकामप्यृचं यजुः साम वा तद् ब्रह्मयज्ञः' (तै० आ० २।१०) इति । सोऽयं ब्रह्मयज्ञजपोऽग्निमीळ इत्याम्नायक्रमेणैव अनुष्ठेयः । तथा सर्वा ऋचः, सर्वाणि यजूंषि, सर्वाणि सामानि 'वाचःस्तोमे पारिप्लवं शंसति' इति विधीयते । तथा आश्विने सस्यमाने 'सूर्यो नोदियादपि सर्वा दाशतयीरनुब्रूयाद्' (आप० श्रौतसूत्र १४।१।२) इति विधीयते; 'रिच्यत इव वा एष प्रेवरिच्यते, यो याजयति प्रति वा गृह्णाति, याजयित्वा प्रतिगृह्य वानश्नन् त्रिः स्वाध्याय वेदमधीयीत' (तै० आ० २।१६) इति प्रायश्चित्तरूपं वेदपारायणं विहितम्—इत्यादिषु कृत्स्नमन्त्रकाण्डविनियोगेषु सम्प्रदायपारम्पर्यागत एव क्रम आदरणीयः ।

विशेषविनियोगांस्तु मन्त्रविशेषाणां श्रुतिलिङ्गवाक्यादिप्रमाणानि उपजीव्य आश्वलायनो दर्शयति । अतो मन्त्रकाण्डक्रमाभावेऽपि न कश्चिद् विरोधः ।

'इषे त्वा' इत्यादिमन्त्रास्तु क्रत्वनुष्ठानक्रमेणैव आम्नाता इत्यापस्तम्बादयस्ते-नैव क्रमेण सूत्रनिर्माणे प्रवृत्ताः। आम्नातत्वादेव जपादिषु अपि स एव क्रमः। यद्यपि ब्राह्मणे दीक्षणीयेष्टिरुपक्रान्ता तथापि तस्या इष्टेर्दर्शपूर्णमासविकृतित्वेन तदपेक्षत्वाद् आश्वलायनस्य आदौ तद् व्याख्यानं युक्तम्। अतः कल्पसूत्रं मन्त्रविनियोगेन क्रत्व-नुष्ठानमुपदिश्य उपकरोति।

तर्हि 'प्र वो वाजा' (ऋ० सं० ३।२७।१) इत्यादिना सामिधेनीनाम् ऋचामेव विनियोगमाश्वलायनो ब्रवीतु; 'नमः प्रवक्त्रे' इत्यादयस्त्वनाम्नाताः कुतो विनियुज्यन्ते (आश्व० सूत्र १।२) इति चेत् ? नायं दोषः, शाखान्तरसमाम्ना-तानां ब्राह्मणान्तरसिद्धस्य विनियोगस्य गुणोपसंहारन्यायेन अत्र वक्तव्यत्वात्; सर्व-शाखा-प्रत्ययमेकं कर्म इति न्यायविदः। तस्मात् शिक्षेव कल्पोऽपि अपेक्षितः।

व्याकरणस्य लक्षणनिर्देशमुखेन प्रयोजन-विशेषाणां वररुचिपतञ्जलिप्रदर्शितदिशा सम्यग्विविच्य विस्तरशः प्रतिपादनम्।

व्याकरणमपि प्रकृतिप्रत्ययाद्यु-पदेशेन पदस्वरूपतदर्थनिश्चयाय उपयुज्यते। तथा च ऐन्द्रवायव-ग्रहब्राह्मणे समाम्नायते—'वाग्वै पराच्यव्याकृतावदत्ते देवा इन्द्रमब्रुवन्निमां नो वाचं व्याकुर्विति। सोऽब्रवीद्, वरं वृणै, मह्यं चैवैष वायवे च सह गृह्याता इति तस्माद् ऐन्द्रवायवः सह गृह्यते। तामिन्द्रो मध्यतोऽवक्रम्य व्याकरोत्। तस्मादियं व्याकृता वागुद्यते' (तै० सं० ६।४।७।३) इति। अग्निमीळे पुरोहितमित्या-दिवाक् पूर्वस्मिन् काले पराची समुद्रादिध्वनिवदेकात्मिका सत्यव्याकृता प्रकृतिः प्रत्ययः पदं वाक्यमित्यादिविभागकारिग्रन्थरहिता आसीत्। तदानीं देवैः प्रार्थित इन्द्र एकस्मिन् एव पात्रे वायोः स्वस्य च सोमरसग्रहणरूपेण वरेण तुष्टस्तामखण्डां वाचं मध्ये विच्छिद्य प्रकृतिप्रत्ययादिविभागं सर्वत्र अकरोत्। तस्मादियं वाग् इदानीमपि पाणिन्यादिमहर्षिभिर्व्याकृता सर्वैः पठ्यते इत्यर्थः।

तस्य एतस्य व्याकरणस्य प्रयोजनविशेषो वररुचिना वार्तिके दर्शितः—'रक्षो-हागमलघ्वसन्देहाः प्रयोजनम्' इति। एतानि रक्षादिप्रयोजनानि प्रयोजनान्तराणि च महाभाष्ये पतञ्जलिना स्पष्टीकृतानि (महाभाष्यस्य पस्पशाह्निके)। रक्षार्थं वेदानामध्येयं व्याकरणम्। लोपागमवर्णविकारज्ञो हि सम्यग् वेदान् परिपालयि-ष्यति वेदार्थं चाध्यवस्यति। ऊहः खल्वपि, न सर्वैर्लिङ्गैर्न च सर्वाभिर्विभक्तिभि-र्वेदे मन्त्रा निगदिताः; ते च अवश्यं यज्ञगतेन पुरुषेण यथायथं विपरिणमयितव्याः। तान् नावैयाकरणः शक्नोति विपरिणमयितुम्' तस्मादध्येयं व्याकरणम्। आगमः खल्वपि, 'ब्राह्मणेन निष्कारणो धर्मः षडङ्गो वेदोऽध्येयो ज्ञेयश्च' इति। प्रधानश्च

षट्सु अङ्गेषु व्याकरणम् । प्रधाने च कृतो यत्नः फलवान् भवति । लघ्वर्थं चाध्येयं व्याकरणम् । बृहस्पतिरिन्द्राय दिव्यं वर्षसहस्रं प्रतिपदोक्तानां शब्दानां शब्दपारायणं प्रोवाच, नान्तं जगाम । बृहस्पतिश्च वक्ता, इन्द्रश्च अध्येता, दिव्यं वर्षसहस्रम् अध्ययनकालः, अन्तं च न जगाम । अद्य तु पुनर्यदि परमायुर्भवति स वर्षशतं जीवति । तत्र कुतः प्रतिपदपाठेन सकलपदावगमः; कुतस्तरां प्रयोगेण ? असन्देहार्थं चाध्येयं व्याकरणम्; याज्ञिकाः पठन्ति—स्थूलपृषतीमाग्निवारुणीमनड्वाहीमालभेत इति । तत्र न ज्ञायते किं स्थूलानि पृषन्ति यस्याः सा स्थूलपृषती, किं वा स्थूला चासौ पृषतीति । तान् नावैयाकरणः स्वरतोऽध्यवस्यति । यदि समासान्तोदात्तत्वं तदा कर्मधारयः, अथ पूर्वपदप्रकृतिस्वरत्वं ततो बहुव्रीहिरिति ।

इमानि च भूयः शब्दानुशासनस्य प्रयोजनानि—तेऽसुराः, दुष्टः शब्दः; यदधीतम्, यस्तु प्रयुङ्क्ते, अविद्वांसः, विभक्तिं कुर्वन्ति, यो वा इमाम्, चत्वारि, उत त्वः, सक्तुमिव, सारस्वतीम्, दशम्यां पुत्रस्य, सुदेवोऽसि वरुण इति ।

तेऽसुराः—

तेऽसुराः हेलयो हेलय इति कुर्वन्तः पराबभूवुः । तस्माद् ब्राह्मणेन न म्लेच्छितवै नापभाषितवै । म्लेच्छो ह वा एष यदपशब्दः । म्लेच्छा मा भूम इत्यध्येयं व्याकरणम् ।

दुष्टः शब्दः—

'दुष्टः शब्दः स्वरतो वर्णतो वा मिथ्याप्रयुक्तो न तमर्थमाह ।
स वाग्वज्रो यजमानं हिनस्ति यथेन्द्रशत्रुः स्वरतोऽपराधात् ॥'
(पा० शि० ५२)

दुष्टान् शब्दान् मा प्रयुक्ष्महीति अध्येयं व्याकरणम् ।

यदधीतम्—

[1]यदधीतमविज्ञातं निगदेनैव शब्द्यते ।
अनग्नाविव शुष्कैधो न तज्ज्वलति कर्हिचित् ॥

अविज्ञातमनर्थकं माधिगीष्महि इति अध्येयं व्याकरणम् ।

यस्तु प्रयुङ्क्ते—

यस्तु प्रयुङ्क्ते कुशलो विशेषे शब्दान् यथावद् व्यवहारकाले ।
सोऽनन्तमाप्नोति जयं परत्र वाग्योगविद् दुष्यति चापशब्दैः[2] ॥

१. यदधीतमित्यस्य स्थाने निरुक्ते (१।६।१) 'यद् गृहीतमिति' पाठो दृश्यते ।
२. कात्यायनोक्तभ्राजाख्यश्लोकमध्ये पठितः ।

कः ? वाग्योगविदेव । यो हि शब्दान् जानाति अपशब्दान् अप्यसौ जानाति । यथैव शब्दज्ञाने धर्म एवमपशब्दज्ञानेऽपि अधर्मः प्राप्नोति । भूयांसो हि अपशब्दा अल्पीयांसः शब्दाः; एकैकस्य हि शब्दस्य बहवोऽपभ्रंशाः; यथा—गौरित्येतस्य शब्दस्य गावी गोणी गोता गोपोतलिकेत्येवमादयः । अथ योऽवाग्योगविद् अज्ञानं तस्य शरणम् । विषम उपन्यासः । न अत्यन्तायाज्ञानं शरणं भवितुमर्हति । यो हि अजानन् वै ब्राह्मणं हन्यात् सुरां वा पिबेत् सोऽपि मन्ये पतितः स्यात् । एवं तर्हि कः ? अवाग्योगविदेव । अथ यो वाग्योगविद्, ज्ञान तस्य शरणम् ।

अविद्वांसः—

अविद्वांसः प्रत्यभिवादे नाम्नो ये न प्लुतिं विदुः ।
कामं तेषु तु विप्रोष्य स्त्रीष्विवायमहं वदेत् ॥

स्त्रीवन्मा भूम इत्यध्येयं व्याकरणम् ।

विभक्तिं कुर्वन्ति—

याज्ञिकाः पठन्ति, '[1]प्रयाजाः' सविभक्तिकाः कार्याः' इति । न च अन्तरेण व्याकरणं प्रयाजाः सविभक्तिकाः शक्याः कर्तुम् । तस्मादध्येयं व्याकरणम् ।

यो वा इमाम्—

यो वा इमां पदशः स्वरशोऽक्षरशो वर्णशो वाचं विदधाति स आर्त्विजीनो भवति ।

आर्त्विजीनाः स्याम इत्यध्येयं व्याकरणम् ।

चत्वारि—

[2]चत्वारि शृङ्गा त्रयो अस्य पादा द्वे शीर्षे सप्त हस्तासो अस्य ।
त्रिधा बद्धो वृषभो रोरवीति महो देवो मर्त्यां आविवेश ॥

(ऋ० सं० ४।५८।३)

---

१. 'प्रयाजमन्त्रा उह्यमानाग्निशब्दप्रकृतिकविभक्तियुक्ता इत्यर्थः । यथा—'समिधः समिधोऽग्न आज्यस्य व्यन्तु अग्नेऽग्न' इति कैयटः ।

२. गूढार्थाभिसम्पन्नोऽयं मन्त्रः स्वशास्त्रानुकूलं विविधविधं व्याख्यातो विभिन्नैः शास्त्रकृद्भिः । तत्र महादेवात्मकस्य शब्दस्य स्वरूपवर्णनमिति भगवान् पतञ्जलिः । काव्यपुरुषस्य स्वरूपवर्णनेति कविशेखरो राजशेखरः (काव्यमीमांसाया द्वितीयाध्याये) । यज्ञपुरुषस्य नियतस्वरूपप्रतिपादनमिति निरुक्तभास्करो यास्कः (निरुक्तपरिशिष्टे १३।७) । पातञ्जलं मतमुपरिष्टाद् वर्णितमेव । राजशेखरमतं तु काव्यमीमांसायामवलोकनीयम् । निरुक्तकारस्याभिप्रायस्तु निरुक्तपरिशिष्टतो (१३।७) ज्ञेयः । मन्त्रस्यास्य व्याख्यानावसरे सायणाचार्या एवमाहुः--यद्यपि सूक्तस्यास्याग्नि-

चत्वारि शृङ्गा, चत्वारि पदजातानि नामाख्यातोपसर्गनिपाताश्च । त्रयो अस्य पादास्त्रयः कालाः भूतभविष्यद्वर्तमानाः । द्वे शीर्षे सुपस्तिङश्च । सप्त-हस्तासः सप्तविभक्तयः । त्रिधा बद्धः, त्रिषु स्थानेषु बद्धः, उरसि कण्ठे शिरसि च । वृषभो वर्षणात् कामानाम् । रोरवीति, रौतिः शब्दकर्मा । महो देवो मर्त्याँ आविवेश । महता देवेन नस्तादात्म्यं यथा स्यादित्यध्येयं व्याकरणम् ।

अथवा, चत्वारि—

[1]चत्वारि वाक्परिमिता पदानि तानि विदुर्ब्राह्मणा ये मनीषिणः ।
गुहा त्रीणि निहिता नेङ्गयन्ति तुरीयं वाचो मनुष्या वदन्ति ॥

(ऋ० सं० १।१६४।४५)

ये मनीषिणः, मनस ईषिणो मनीषिणः । गुहायां त्रीणि निहितानि नेङ्गयन्ति न चेष्टन्ते न निमीषन्ति । तुरीयं वाचो मनुष्या वदन्ति । तुरीयं ह वा एतद् वाचो यन्मनुष्येषु वर्तते ।

उत त्वः—

[2]उत त्वः पश्यन् न ददर्श वाचमुत त्वः शृण्वन् न शृणोत्येनाम् ।
उतो त्वस्मै तन्वं विसस्रे जायेव पत्ये उशती सुवासाः ॥

(ऋ० सं० १०।७१।४)

अपि खलु एकः पश्यन् अपि न पश्यति शृण्वन् अपि न शृणोति एनाम् । अविद्वांसमाह अर्द्धम् । त्वस्मै अन्यस्मै तन्वं विसस्रे, तनुं विवृणुते । जायेव पत्य उशती सुवासाः । यथा जाया पत्ये कामयमाना सुवासाः स्वमात्मानं विवृणुते

सूर्यादिपञ्चदेवताकत्वात् पञ्चधाऽयं मन्त्रो व्याख्येयः, तथापि निरुक्ताद्युक्तनीत्या यज्ञात्मकाग्नेः सूर्यस्य न प्रकाशत्वेन तत्परतया व्याख्यायते । शाब्दिकास्तु शब्द-ब्रह्मपरतया व्याचक्षते । अपरे तु अपरथा । इति ।

१. निरुक्तपरिशिष्टे मन्त्रस्यास्य व्याख्यायां (नि० १३।९) चत्वारि पदानि विविधविधान्येव प्रतिपादितानि विभिन्नैर्विद्वद्भिः स्वस्वशास्त्राभिप्रायमनुरुन्धद्भिः । तानि च यथा—

'ओंकारो महाव्याहृतयश्चेत्यार्षम् । नामाख्याते चोपसर्गनिपाताश्चेति वैयाकरणाः । मन्त्रः कल्पो व्याकरणं चतुर्थी व्यावहारिकीति याज्ञिकाः । ऋचो यजूंषि सामानि चतुर्थी व्यावहारिकीति नैरुक्ताः । सर्पाणां वाग्, वयसां, क्षुद्रस्य सरीसृपस्य, चतुर्थी व्यावहारिकीत्येके (अधिभूतविदः) । पशुषु तूणवेषु मृगे स्वात्मनि चेत्यात्म-प्रवादाः' ।

२. निपुणं व्याख्यातोऽयं मन्त्रो निरुक्तकारेण यास्केन । (नि० १।१९)

एवं वाग् वाग्विदे स्वम् आत्मानं विवृणुते। वाक् स्वं नो विवृणुयादित्यध्येयं व्याकरणम्।

सक्तुमिव—

[1]सक्तुमिव तितउना पुनन्तो यत्र धीरा मनसा वाचमक्रत।
अत्रा सखायः सख्यानि जानते भद्रैषां लक्ष्मीर्निहिताधि वाचि॥
(ऋ० सं० १०।७१।२)

सक्तुः सचतेर्दुर्धावो भवति। कसतेर्वा स्याद् विपरीतस्य, विकसितो भवति। तितउ परिपवनं भवति; ततवद् वा तुन्नवद् वा। धीराः प्रज्ञानवन्तो ध्यानवन्तो मनसा प्रज्ञानेन वाचमक्रत वाचमकृषत। अत्रा सखायः सख्यानि जानते अत्र सखायः सख्यानि सञ्जानते सायुज्यानि जानते। क्व? एष दुर्गमो मार्ग एकगम्यो वाग्विषयः। के पुनस्ते? वैयाकरणाः। कुत एतत्? भद्रैषां लक्ष्मीर्निहिताधिवाचि। एषां वाचि भद्रा लक्ष्मीर्निहिता भवति। लक्ष्मीर्लक्षणाद् भासनात् परिवृढा भवति।

सारस्वतीम्—

याज्ञिकाः पठन्ति, 'आहिताग्निरपशब्दं प्रयुञ्जानः प्रायश्चित्तीयां सारस्वतीमिष्टिं निर्वपेद्' इति।

प्रायश्चित्तीया मा भूम इत्यध्येयं व्याकरणम्।

दशम्यां पुत्रस्य—

दशम्यां पुत्रस्य जातस्य नाम विदध्याद् घोषवद् आद्यन्तरन्तःस्थमभिनिष्ठान्तं द्व्यक्षरं चतुरक्षरं वा। कृतं नाम कुर्यान्न तद्धितान्तमिति।

न चान्तरेण व्याकरणं कृतस्तद्धिता वा शक्या विज्ञातुम्। तस्मादध्येयं व्याकरणम्।

सुदेवो असि—

सुदेवो असि वरुण यस्य ते सप्त सिन्धवः।
अनुक्षरन्ति काकुदं सूर्म्यं सुषिरामिव॥ (ऋ० सं० ८।६९।१२)

सप्त सिन्धवः सप्त विभक्तयः। काकुद जिह्वा सास्मिन् विद्यते इति काकुदं तालु। सूर्मिः स्थूला लोहप्रतिमेति।

---

१. भगवता यास्केन निरुक्तस्य चतुर्थाध्यायस्य नवमे खण्डे मन्त्रोऽयं व्याख्यायि।

एवं 'सिद्धे शब्दार्थसम्बन्धे' इत्यादिवार्तिकोक्तानि अत्रापि प्रयोजनानि अनुसन्धेयानि ।

निरुक्तस्य लक्षणप्रयोजने प्रदश्य तत्रस्थ-विषयाणां कार्त्स्न्येन विवेचनम् ।

अथ निरुक्तप्रयोजनमुच्यते । अर्थावबोधे निरपेक्षतया पदजातं यत्रोक्तं तन्निरुक्तम् । गौः, ग्मा, ज्मा, क्ष्मा, क्षा, क्षमेत्यारभ्य, वसवः, वाजिनः, देवपत्न्यो देवपत्न्य इत्यन्तो यः पदानां समाम्नायः समाम्नातस्तस्मिन् ग्रन्थे पदार्थावबोधाय परापेक्षा न विद्यते । एतावन्ति पृथिवीनामान्येतावन्ति हिरण्यनामानीत्येवं तत्र तत्र विस्पष्टमभिहितत्वात् । तदेतन्निरुक्तं त्रिकाण्डम् । तच्च अनुक्रमणिकाभाष्ये दर्शितम्—

'आद्यं नैघण्टुकं काण्डं द्वितीयं नैगमं तथा ।
तृतीयं दैवतश्चेति समाम्नायस्त्रिधा स्थितः ॥
गौराद्यापारपर्यन्तमाद्यं नैघण्टुकं मतम् ।
जहाद्युल्वमृबीसान्तं नैगमं सम्प्रचक्षते ॥
अग्न्यादिदेवपत्न्यन्तं देवताकाण्डमुच्यते ।
अग्न्यादिदेवीऊर्जाहुत्यन्तः क्षितिगतो गणः ॥
वाय्वादयो भगान्ताः स्युरन्तरिक्षस्थदेवताः ।
सूर्यादिदेवपत्न्यन्ता द्युस्थाना देवता इति ।
गौरादिदेवपत्न्यन्तं समाम्नायमधीयते ॥' इति ।

एकार्थवाचिनां पर्यायशब्दानां सङ्घो यत्र प्रायेण उपदिश्यते तत्र निघण्टुशब्दः प्रसिद्धः । तादृशेषु अमरसिंहवैजयन्तीहलायुधादिषु दश निघण्टव इति व्यवहारात् । एवमत्रापि पर्यायशब्दसङ्घोपदेशाद् आद्यकाण्डस्य नैघण्टुकत्वम् । तस्मिन् काण्डे त्रयोऽध्यायाः । तेषु प्रथमे पृथिव्यादिलोकदिक्कालादिद्रव्यविषयाणि नामानि । द्वितीये मनुष्यतदवयवादिद्रव्यविषयाणि । तृतीये तदुभयद्रव्यगतबहुत्वह्रस्वत्वादिधर्मविषयाणि ।

निगमशब्दो वेदवाची, यास्केन तत्र तत्रापि निगमो भवतीत्येवं वेदवाक्यानाम् अवतारितत्वात् । तस्मिन् निगम एव प्रायेण वर्तमानानां शब्दानां चतुर्थाध्यायरूपे द्वितीयस्मिन् काण्डे उपदिष्टत्वात् तस्य काण्डस्य नैगमत्वम् ।

पञ्चमाध्यायरूपस्य तृतीयकाण्डस्य दैवतत्वं विस्पष्टम् ।

पञ्चाध्यायरूपकाण्डत्रयात्मके एतस्मिन् ग्रन्थे परनिरपेक्षतया पदार्थस्य उक्तत्वात् तस्य ग्रन्थस्य निरुक्तत्वम् । तद्व्याख्यानञ्च समाम्नायः समाम्नात इत्यारभ्य

तस्यास्तस्यास्ताद्भाव्यमनुभवत्यनुभवतीत्यन्तैर्द्वादशभिरध्यायैर्यास्को निर्ममे । तदपि निरुक्तमित्युच्यते, एकैकस्य पदस्य सम्भाविता अवयवार्थास्तत्र निःशेषेण उच्यन्ते इति व्युत्पत्तेः । तत्र हि, चत्वारि पदजातानि नामाख्याते चोपसर्गनिपाताश्चेति प्रतिज्ञाय, उच्चावचेषु अर्थेषु निपतन्तीति निपातस्वरूपं निरुच्य एवमुदाहृतम्— नेति प्रतिषेधार्थीयो भाषायामुभयमन्वध्यायं 'नेन्द्रं देवममंसत' इति प्रतिषेधार्थीय इति, 'दुर्मदासो न सुराया'मित्युपमार्थीय (नि० १।१।४) इति च । तच्च लोके केवलप्रतिषेधार्थीयस्यापि नकारस्य वेदे प्रतिषेधोपमालक्षणोभयार्थोदाहरणमस्मिन् ग्रन्थेऽवगम्यते । एवं ग्रन्थकारेण उक्तास्तत्तत्पदनिर्वचनविशेषास्तत्तन्मन्त्रव्याख्यानावसरे एव अस्माभिरुदाहरिष्यन्ते । न च निर्वचनानां निर्मूलत्वं शङ्कनीयम्, एतद्व्युत्पत्त्यर्थमेव ब्राह्मणेषु पदनिर्वचनानां केषाञ्चिदुक्तत्वात् 'तदाहुतीनाम् आहुतित्वम्' इति, (ऐत० ब्रा० १।१।२) 'तमिदन्द्रं सन्तमिन्द्र इत्याचक्षत' (ऐत० आ० २।४।३) इति, यदप्रथयत् तत् पृथिव्याः पृथिवीत्वम् (तै० ब्रा० १।१।३।६।७) इति च । ग्रन्थकारोऽपि तत्र तत्र स्वोक्तनिर्वचनमूलभूतब्राह्मणानि उदाहरिष्यति । केषाञ्चिन् निर्वचनानां व्याकरणबलेन सिद्धावपि न सर्वेषां सिद्धिरस्ति । अतएव ग्रन्थकार आह—'तदिदं विद्यास्थानं व्याकरणस्य कार्त्स्न्यं स्वार्थसाधकञ्च' (नि० १।५) इति । तस्माद् वेदार्थविबोधाय उपयुक्तं निरुक्तम् ।

छन्दसः प्रयोजनोपन्यासः । तथा छन्दोग्रन्थोऽपि उपयुज्यते, छन्दोविशेषाणां तत्र तत्र विहितत्वात् । 'तस्मात् सप्त चतुरुत्तराणि छन्दांसि प्रातरनुवाकेऽनूच्यन्ते' (तै० ब्रा० १।५।१२।१) इति हि आम्नातम् । गायत्र्युष्णिगनुष्टुब्बृहतीपङ्क्तित्रिष्टुब्जगतीत्येतानि सप्त छन्दांसि । चतुर्विंशत्यक्षरा गायत्री । ततोऽपि चतुर्भिरक्षरैरधिका अष्टाविंशत्यक्षरा उष्णिक् । एवमुत्तरोत्तराधिका अनुष्टुबादयोऽवगन्तव्याः । तथा अन्यत्रापि श्रूयते—'गायत्रीभिर्ब्राह्मणस्यादध्यात्, त्रिष्टुब्भी राजन्यस्य, जगतीभिर्वैश्यस्य' (तै० ब्रा० १।१।९।६।७) इति तत्र मगणयगणादिसाध्यो गायत्र्यादिविवेकश्छन्दोग्रन्थमन्तरेण न सुविज्ञेयः । किञ्च, यो ह वा अविदितार्षेयच्छन्दोदैवतब्राह्मणेन मन्त्रेण याजयति वाध्यापयति वा 'स्थाणुं वर्च्छति गर्तं वा पद्यति प्र वा मीयते पापीयान् भवति' (का० १।१)। तस्मादेतानि मन्त्रे मन्त्रे विद्यामिति श्रूयते । तस्मात् तद्वेदनाय छन्दोग्रन्थ उपयुज्यते ।

ज्योतिषस्य प्रयोजनादिनिर्देशः । ज्योतिषस्य प्रयोजनं तस्मिन्नेव ग्रन्थे विहितम्— 'यज्ञकालार्थसिद्धये' (वेदाङ्गज्यो० ३) इति । कालविशेषविधयश्च श्रूयन्ते—

'संवत्सरमेतद् व्रतं चरेत्' (तै० आ० १।३२।१) 'संवत्सरमुख्यं भूत्वा' (तै० सं० ५।६।५।१) इत्येवमादयः संवत्सरविधयः; 'वसन्ते ब्राह्मणोऽग्निमादधीत, ग्रीष्मे राजन्य आदधीत, शरदि वैश्य आदधीत' (तै० ब्रा० १।१।२।६।७) इत्याद्या ऋतुविधयः; 'मासि मासि सत्रपृष्ठानि उपयन्ति, मासि मासि अतिग्राह्या गृह्यन्ते' (तै० सं० ७।५।१।५) इत्याद्या मासविधयः; 'यं कामयेत वसीयान् स्यादिति तं पूर्वपक्षे याजयेद्' (तै० सं० २।२।३।१) इत्याद्याः पक्षविधयः; 'एकाष्टकायां दीक्षेरन्, 'फल्गुनीपूर्णमासे दीक्षेरन्' (तै० सं० ७।४।८।१) इत्याद्यास्तिथिविधयः; 'प्रातर्जुहोति' 'सायं जुहोति' (तै० ब्रा० २।१।२) इत्याद्याः प्रातःकालादिविधयः; 'कृत्तिकास्वग्निमादधीत' (तै० ब्रा० १।१।२।१) इत्याद्या नक्षत्रविधयः । अतः कालविशेषान् अवगमयितुं ज्योतिषमुपयुज्यते ।

एतेषां च वेदार्थोपकारिणां षण्णां ग्रन्थानां वेदाङ्गत्वं शिक्षायामेवमुदीरितम्—

'छन्दः पादौ तु वेदस्य हस्तौ कल्पोऽथ पठ्यते ।
ज्योतिषामयनं चक्षुर्निरुक्तं श्रोत्रमुच्यते ॥
शिक्षा घ्राणं तु वेदस्य मुखं व्याकरणं स्मृतम् ।
तस्मात् साङ्गमधीत्यैव ब्रह्मलोके महीयते ॥'

(पा० शि० ४१–४२) इति ।

पुराणन्यायादिचतुर्दशविद्यास्थानानां षडङ्गवत् पुराणादीनामपि वेदार्थ-
तत्तदधिकारिविशेषनिर्देशमुखेन वेदार्थ- ज्ञानोपयोगो याज्ञवल्क्येन स्मर्यते—
ज्ञानोपयोगित्वम् ।

'पुराणन्यायमीमांसाधर्मशास्त्राङ्गमिश्रिताः ।
वेदाः स्थानानि विद्यानां धर्मस्य च चतुर्दश ॥'

(या० स्मृ० १।३) इति ।

'इतिहासपुराणाभ्यां वेदं समुपबृंहयेत् ।
बिभेत्यल्पश्रुताद् वेदो मामयं प्रहरेदिति' ॥ (म० भा० १।१।२६७)

इत्यन्यत्रापि स्मर्यते ।

ऐतरेयतैत्तिरीयकाठकादिशाखासूक्तानि हरिश्चन्द्रनाचिकेताद्युपाख्यानानि धर्मब्रह्मावबोधोपयुक्तानि तेषु तेषु इतिहासग्रन्थेषु स्पष्टीकृतानि । उपनिषदुक्ताः सृष्टिस्थितिलयादयो ब्राह्मपाद्मवैष्णवादिपुराणेषु स्पष्टीकृताः—

'सर्गश्च प्रतिसर्गश्च वंशो मन्वन्तराणि च ।
वंशानुचरितञ्चेति पुराणं पञ्चलक्षणम्' ॥ (वि० पु० ३।६।२५)

इति सृष्ट्यादेः पुराणप्रतिपाद्यत्वावगमात्। न्यायशास्त्रे प्रमाणप्रमेयसंशय-प्रयोजनदृष्टान्तादीनां षोडशपदार्थानां निरूपणात्। तदनुसारेण इदं वाक्यमस्मिन् अर्थे प्रमाणं भवति नेतरद् इति निर्णयः कर्तुं शक्यते। पूर्वोत्तरमीमांसयोर्वेदार्थोपयोगोऽतिस्पष्ट एव। मन्वत्रिविष्णुहारीतादिप्रोक्तासु स्मृतिषु वेदोक्तसन्ध्यावन्दनादि-विधयः प्रपञ्चिताः। 'तदु ह वा एते ब्रह्मवादिनः पूर्वाभिमुखाः सन्ध्यायां गायत्र्याभिमन्त्रिता आपः ऊर्ध्वं विक्षिपन्ति' (तै० आ० २।२) इत्यादिकः सन्ध्यावन्दनविधिः। 'पञ्च वा एते महायज्ञाः सतति प्रतायन्ते' (तै० आ० २।१०) इत्यादिको महायज्ञविधिः। एवं विध्यन्तराणि द्रष्टव्यानि। उक्तप्रकारेण पुराणादीनां वेदार्थज्ञानोपयोगाद् विद्यास्थानत्वं युक्तम्। एतैः पुराणादिभिश्चतुर्दशभिर्विद्यास्थानै-रुपबृंहिताया विद्याया ग्रहणेऽधिकारविशेषः शाखान्तरगतैश्चतुर्भिर्मन्त्रैरुपदर्शितः। तांश्च मन्त्रान् यास्क उदाजहार (नि० २।४)।

तत्रायं प्रथमो मन्त्रः—

[1]विद्या ह वै ब्राह्मणमाजगाम गोपाय मा शेवधिष्टेऽहमस्मि।
असूयकायानृजवेऽयताय न मा ब्रूया वीर्यवती तथा स्याम्॥

विद्याभिमानिनी देवता ब्राह्मणमुपदेष्टारमाचार्यमाजगाम। आगत्य एवं प्रार्थयामास—हे ब्राह्मण, मामनधिकारिणेऽनुपदिश्य पालय। तवाहं निधिवत् पुरुषार्थहेतुरस्मि। तादृश्यां मयि मदुपदेष्टरि त्वयि च योऽसूयां करोति, यश्च आर्जवेन विद्यां नाभ्यस्यति, योऽपि स्नानाचमनाद्याचारनियतो न भवति तादृशेभ्यः शिष्याभासेभ्यो मां न ब्रूयाः। तथा सति त्वद्हृदये स्थित्वा फलप्रदा भवेयम्।

अथ द्वितीयो मन्त्रः—

य आतृणत्त्यवितथेन कर्णावदुःखं कुर्वन्नमृतं सम्प्रयच्छन्।
[2]तं मन्येत पितरं मातरञ्च तस्मै न द्रुह्येत् कतमच्चनाह॥ इति॥

पूर्वस्मिन् मन्त्रे आचार्यस्य नियममभिधाय अस्मिन् मन्त्रे शिष्यस्य नियमोऽभिधीयते। वितथमनृतमपुरुषार्थभूतं लौकिकं वाक्यम्, तद्विपरीतं सत्यं

---

१. मनुरपि अस्यैव मन्त्रस्यार्थमित्थं प्रकटीचकार स्वीयस्मृतौ—
विद्या ब्राह्मणमेत्याह शेवधिस्तेऽस्मि रक्ष माम्।
असूयकाय मां मादास्तथा स्यां वीर्यवत्तमा॥ (म० स्मृ० २।११४)।

२. तथा मनुः—उत्पादकब्रह्मदात्रोर्गरीयान् ब्रह्मदः पिता।
ब्रह्मजन्म हि विप्रस्य प्रेत्य चेह च शाश्वतम्॥ (म० स्मृ० २।१४६)।

वेदवाक्यमवितथम् । तादृशेन वाक्येन य आचार्यः शिष्यस्य कर्णावातृणत्ति सर्वतः स्तर्दनं पूरणं करोति । उपसर्गवशादौचित्याच्च तृणत्ति धातोरर्थान्तरे वृत्तिः । सर्वदा वेदं यः श्रावयति इत्यर्थः । किं कुर्वन् ? अदुःखं कुर्वन् । मन्दप्रज्ञस्य माणवकस्य आदावर्धर्चमृचं वा ग्रहीतुमशक्तस्य यथा दुःखं न भवति तथा पदं पादैकदेशं वा ग्राहयन् । किञ्च अमृतं सम्प्रयच्छन् । अमृतत्वस्य देवजन्मनो मोक्षस्य वा प्रापकत्वाद् अमृतं वेदार्थः; तस्य प्रदानं कुर्वन् । तं तादृशम् आचार्यं सन् शिष्यो मुख्यमातापितृरूपं मन्येत । पूर्वसिद्धौ तु मातापितरावधमस्य मनुष्यशरीरस्य प्रदानादमुख्यौ । तस्मै मुख्यमातापितृरूपाय आचार्याय एकमपि द्रोहं न कुर्यात् ।

अथ तृतीयो मन्त्रः—

अध्यापिता ये गुरुं नाद्रियन्ते विप्रा वाचा मनसा कर्मणा वा ।
यथैव ते न गुरोर्भोजनीयस्तथैव तान्न भुनक्ति श्रुतं तत् ॥ इति ॥

ये त्वधमा विप्रा गुरुणा अध्यापिताः सन्तो विनयोक्त्या तदीयहितचिन्तनेन शुश्रूषया वा गुरुं नाद्रियन्त आदररहितास्ते शिष्याभासा गुरोर्न भोजनीया अनुभवयोग्या न भवन्ति, न हि तेषु गुरुः कृपां करोति । यथैव गुरुणा ते न पालनीयास्तथैव तानधमान् शिष्यान् तच्छ्रुतं गुरूपदिष्टं वेदवाक्यं न पालयति, फलप्रदं न भवति इत्यर्थः ।

अथ चतुर्थो मन्त्रः—

[1]यमेव विद्याः शुचिमप्रमत्तं मेधाविनं ब्रह्मचर्योपपन्नम् ।
यस्ते न द्रुह्येत् कतमच्चनाह तस्मै मा ब्रूया निधिपाय ब्रह्मन् ॥ इति ॥

हे आचार्य, यमेव मुख्यशिष्यं शुचित्वादिगुणोपेतं जानीयाः, किञ्च यो मुख्यशिष्यस्तुभ्यं कदाचिदपि न द्रुह्येत्, तस्मै तु मुख्यशिष्याय त्वदीयनिधिपालकाय हे ब्रह्मन् वेदरूपां मां विद्यां ब्रूयाः । इत्थं विद्यादेवतया प्रार्थितत्वाद् आचार्येण मुख्यशिष्याय वेदविद्या उपदेष्टव्या ।

तदर्थमृग्वेदोऽस्माभिः षडङ्गानुसारेण व्याख्यायते ।

---

१. मन्त्रार्थोऽयं मनुनापि प्रतिपादितः—
यमेव तु शुचिं विद्यान्नियतं ब्रह्मचारिणम् ।
तस्मै मां ब्रूहि विप्राय निधिपायाप्रमादिने ॥ (म० स्मृ० २।११५) ।